८. चिन्तक श्री प्रथमेश

चिन्तक श्री प्रथमेश

मंगलाचरण

मंगलाचरण की परम्परा नास्तिक ग्रंथों के सिवाय सभी में है । परम्परा जीवन में मर्यादा लाती है । सत्पुरुषों ने शिष्टाचार और मर्यादा का क्षेत्र निश्चित किया यह क्षेत्र दोषरहित हुआ और धर्म का क्षेत्र बना । इसके लिए मंगलाचरण किया जाता है ।

मन का नियन्त्रण तथा भावनाओं का नियंत्रण मर्यादा में आने से होता है । किसी वस्तु को सीख न पाने पर उसे आज पाखंड कह देते है । सेवा की मर्यादा भी पाखंड लगती है । श्री वल्लभ एवं परवर्ती आचार्यों ने परम्परा निभाई । गरीब व अमीर सबके लिये मर्यादा आवश्यक थी । कितना ही कष्ट होने पर भी जितनी हो सकेगी दूसरों की सहायता करेंगे - "इसी व्रत का पालन करें "- यह मर्यादा है ।

निश्चिन्त रह कर काम करो -व्यापार करो । उद्वेगरहित हो कर मर्यादा से रह कर करो । मन द्वारा मर्यादा से रह सके या न रह सके पर शरीर की मर्यादा आवश्यक है , इसे रखो । भक्त क्रोध आने पर छी गए , न्हाए । उनका शरीर पर नियंत्रण था उनको यदि बाहर से किसी ने छुआ तो भी न्हाए , उसको थप्पड़ नहीं लगाया ।

ग्लानि आवश्यक है लेकिन कब है ? तथा इसका उपयोग किस समय करना है? इसका उपयोग रुचि को रोकने में करना है । अपने पर नियंत्रण रखें ।यदि यह सोचते हैं कि यह बनता है - यह नहीं बनता तो सोचें क्या बनता है ? ऐसा सोचते सोचते जब कुछ भी नहीं कर पाते तब धर्म भी नहीं कर सकते ।

स्वेच्छाचार से धर्म नहीं बनेगा । **Hate the sin not the sinner** यहाँ घृणा स्वीकार की है । वल्लभ ग्रंथों को छुए बिना सेवा को पाखंड कहते है । यहाँ मर्यादा सहित अर्थ लगाते हैं - लोक में मर्यादा रहित अर्थ लगाते हैं । रुचि को रोकने की सब से मजबूत चीज है ग्लानि । जिसमें रुचि हो उसमें से यदि गंध आई तो उससे ग्लानि हो जाएगी । रुचि के कारण ही गुण -दुर्गुणों की पहचान भूलते हैं ।

भगवान दुर्गुणों से परे हैं । दुर्गुणों का मनन- चिंतन बंद होगा घृणा से तथा आचार से । सामान्य रूप से धर्म यह दंड देता है - स्नान करो ।

अपराधी मनोवृत्ति को सुधारने के लिये आदर्श -चिंतन दिया जाता था मंगलाचरण से । मंगलाचरण = मंगल+ आचरण ।

मंगलाचरण में चार प्रकार की भावना रहती हैं -

1.बाधा न हो - कार्य के आरंभ में

2.आशीर्वादात्मक

3.संस्तुत्यात्मक

4.वस्तुनिर्देशात्मक

महापुरुषों का आशीर्वाद स्तुति से मिलता है । नमन माथे से होता है केवल हाथ नमन नहीं करता । क्रिया और विचार से (दैन्यपूर्वक नमन करने से) दोनों प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करेंगे तभी आचार्य और प्रभु का स्वरूप समझ में आएगा । स्वरूप समझ में आने पर धर्म समझ में आ जाएगा । पढ़ने पर जैसे चीज समझ में आती है इसके पूर्व समझ में नहीं आती उसी प्रकार महापुरुषों के आशीर्वाद से धर्म समझ में आता है ।

आचार- विचारों में विघ्न आ सकते हैं । आचार्यचरणों में नमन के द्वारा दुर्गुणों और विघ्नों को दूर कर शुद्ध वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं । नमन बिना दीनता नहीं होती । दैन्य आचार्य के सान्निध्य में है और अदृश्य रूप से चिंतन है इस मंगलाचरण में। जब तक जीना है सक्रिय हो कर जीना है । आचार्य-कृपा से क्रिया स्नेह युक्त हो कर असीम व्रह्म को बालक के रूप में प्रस्तुत करती है । प्रेम के द्वारा ही जीव को भगवान् की अनुभूति होती है ।

भगवान् की सेवा नित्य आनंद देने वाली क्रिया है इसमें सावधानता और सुघड़ता होना चाहिये । सदानंद भगवान को आनंद की आवश्यकता नहीं और उसके भक्त भी सदानंद हैं । अपने प्रिय को सुखी बनाने की मंगल कामना परस्पर है । उस असीम सुख व आनंद का अनुभव सीमा में मर्यादा में रह कर करना है । (मंगलाचरण से मंगल कामना के द्वारा) उनके आगे नमन करे तब वह प्राप्त होता है ।

(पू.पा. गो. रणछोडाचार्यजी प्रथमेश के वचनामृत से संगृहीत)

प्रस्तुति - कमलादेवी माहेश्वरी

यमुनाष्टक : संक्षिप्त व्याख्या

आदरणीय वैष्णव वृन्द,

आज आप के सामने श्रीमद्वल्लभाचार्य के यमुनाष्टक स्तोत्र की थोडी व्याख्या प्रस्तुत कर रहा हूँ । श्रीमदाचार्य का चिन्तन वहुत ही गम्भीर और मननीय है । फिर भी उनके चरणारविन्दों का आश्रय और स्मरण करके जैसी प्रेरणा हुई है, उसी प्रकार यह विवेचन करने का साहस किया है ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु ने जो ग्रन्थों की रचना की है वह वैष्णवों के षोडश अर्थात् सोलह संस्कार हैं । जैसे संस्कार और संस्कृति के विना कोई भी मानव अपनी वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता, उसी तरह इन सोलह ग्रन्थों को समझकर वैसा आचार और व्यवहार बनाये बिना वैष्णव समाज स्वधर्म और अपने व्यक्तिगत जीवन की सच्ची उन्नति नहीं कर सकता । ये भगवदीय जीवन के मूल सिद्धान्त हैं । जव तक मूल सिद्धान्तों को समझ कर पालन नहीं करते तब तक हमारा जीवन भगवदीय नहीं बनता और जब तक भगवदीय जीवन नहीं बनाते तब तक सुख-शान्ति नहीं मिल सकती, और जिस समाज में सुख शान्ति नहीं होती उस समाज की वास्तविक उन्नति कभी नहीं हो सकती । इसलिये हमारे मूल सिद्धान्तों को हमें समझना चाहिये । क्योंकि मूल को छोड़ने पर जैसे वृक्ष नीरस हो जाता है , इसी भाँति मनुष्य जीवन भी नीरस और सूखा वन जाता है । इसलिये हमारे स्वधर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये षोडश ग्रंथ पहली सीढ़ी है । श्री यमुनाष्टक भी हमारे सिद्धान्तों को समझने का प्रथम सोपान है । और इस पर मनन करने से पहले हमको यह समझना आवश्यक है कि आचार्य श्रीमहाप्रभु ने इस स्तोत्र में भक्तिमार्ग के प्रथम सिद्धान्त का निरूपण किया है । वह प्रथम मूल सिद्धान्त है- 'दीनता' । इस दैन्य भाव से ही भगवत्- शरणागति सिद्ध होती है और प्रभु हम पर कृपा करते हैं । क्योंकि हमारा मार्ग साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण तक पहुंचने के लिये अनुग्रह मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है । जिसका स्पष्टीकरण श्रीमद्भगवद्गीता में भी हमें मिलता है । उस गीता में दिखाये गये शरण मार्ग का ही श्रीमद्वल्लभाचार्य ने गम्भीर विवेचन करके 'पृथक् शरण मार्ग' की स्थापना की है। श्री यमुनाष्टक स्तोत्र के द्वारा हम उस शरण मार्ग के स्वरूप को अपने हृदय में दृढ़ करें तभी हमको भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने का अधिकार मिलेगा। यह अधिकार बल से, धन से, साधन से नहीं मिलता यह तो नमन करने से ही मिलता है । इसीलिये पहले श्लोक का प्रारंभ आचार्य श्री 'नमामि' शब्द से करते हैं । यह नमस्कार मंगल रूप है । शास्त्रों में तीन तरह के मंगलाचरण बतलाये हैं । पहला नमस्कारात्मक, दूसरा आशीर्वादात्मक और तीसरा वस्तुनिर्देशात्मक । किसी भी ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण करना यह वैदिक,

आस्तिक धर्म शास्त्र की परम्परा है ।

यह शिष्ट पुरुषों का आचरण है । इस शिष्ट आचरण का निर्वाह करते हुए पुष्टिमार्गीय प्रणाली भी आचार्य श्री ने साथ में बतलाई है । पहला नमस्कार दीनता और शरणागति का सूचक है । जो व्यक्ति दीनता से रहकर प्रभु की शरणागति रखेगा उसी का जीवन प्रभु सफल करते हैं । ऐसे निस्साधन भक्तों को भगवान् कभी नहीं छोड़ते, यह उनकी प्रतिज्ञा है । और प्रभु की प्रतिज्ञा कभी झूठी नहीं होती । क्योंकि भगवान् अपने भक्तों के लिये ही प्रतिज्ञा करते भी हैं । और भक्त के कल्याण के लिये उसे छोड़ते या तोड़ते भी हैं । यही उनकी महानता है ।

श्री वल्लभाचार्य ने पहले श्लोक में भक्ति मार्ग का सिद्धान्त बतलाया और यह स्पष्ट किया कि श्री ठाकुरजी की तुर्य (चौथी) प्रिया श्री यमुना जी को मैं 'मुदा' आनन्द से नमस्कार करता हूँ । आनंद अपने इष्ट और प्रिय के मिलने पर ही होता है। श्री यमुना जी भक्तों की इष्ट हैं । इतना ही नहीं वे भक्ति मार्ग की 'सकल सिद्धियों की कारण रूप' हैं । उनके द्वारा ही भक्तों को सब प्रकार की सेवोपयोगी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । भगवत्सेवा के लिये सिद्धियां कोई भी देवता के द्वारा नहीं मिलती, वह तो करुणारूपा श्री यमुनाजी से ही हमें मिलती हैं । संसार की सिद्धियाँ हमें भले ही दूसरे देवी देवता और अन्य शास्त्रों से मिलें किन्तु कृपा की सिद्धि भगवान् ही कराते हैं । और श्री यमुना जी के रूप और प्रभु के स्वरूप में कोई भेद नहीं समझना चाहिये । दूसरे श्लोक में 'मुरारि' मुर नामक दैत्य गति करने वाले और उस दैत्य के शत्रु श्रीठाकुर जी हैं । असुर लोग जो भगवान् को शत्रुभाव से भजते हैं और प्रभु उन पर भी करुणा करके उनकी 'सद्गति' करते हैं । यही भगवान् की विशेषता है । ऐसे असुरों को भी गति देने वाले भगवान् के चरण कमल से 'स्नेह के श्रमजल' प्रकट होकर श्री यमुना जी प्रभु के श्रम निवारण के लिये 'अमन्द' अर्थात् तीव्र वेग से नीचे पधार रहीं है । जिनकी शोभा परम उज्ज्वल और अपूर्व है जैसी पहले कभी देखी या सुनी नहीं है ।

जिनका प्रवाह अमंद है ऊपर से नीचे आती हुई श्वेत फेन वाली धारा अपने परम प्रिय प्रभु को प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा और उत्साह के कारण शीघ्र ही दौड़ी चली जा रही हैं जिससे प्रभु का श्रम निवारण हो । श्रीयमुनाजी की रेणुका के कण नक्षत्रों की भाँति चमक रहे हैं । जल से रेणु और रेणुका से जल एक से एक अधिक शोभा बढ़ाने वाले हैं । यह श्री यमुना का अमन्द वेग समस्त प्रतिवन्धों को हटाने वाला है और रेणुका के उज्ज्वल कण जिन पर भगवान् के चरणारविन्द गोचारण एवं श्री ब्रज भक्तों के साथ लीला के समय अंकित होते हैं उन्हीं श्रीकृष्ण की नखचन्द्र छटा उन वालुका के रजकणों में, प्रभु प्रेम का दिव्य प्रकाश भरती जा रही है जिससे समस्त भक्तों के मोह अंधकार को दूर करती हुई आप अपने तट पर स्थित नवीन कानन जिनमें नाना भाँति के कुसुम विकसित होकर स्वयं वरस रहे हैं; मानो उस प्रभु प्रेम की पावन धारा की पूजा कर रहे हों और इस

प्रकार अपना प्रमोद प्रकट करती हुई श्रीयमुना वन वीथियों में वेणी सजाती हुई देवता और असुर दोनों से पूजित वृन्दावन में विहार कर करती हुई साक्षात् श्रीकृष्ण की शोभा को प्राप्त कर रही हैं ।

(बहुत से टीकाकारों ने भावनापरक अर्थ करते हुए असुर शब्द का अर्थ मानभाव वाले भक्त ऐसा भी किया है ।)

प्रभु प्रेम में मग्न, विह्वल हुई श्री यमुना जब भूतल पर चरण-विन्यास करती हैं तव कलिन्द गिरि पर्वत के मस्तक पर से ऐसे प्रवाह में पधारती हैं जहाँ वड़े-वड़े शैल शिखर पर नृत्य करती हुई मन्द हास्य कपोलों पर झलक रहा है । जिस मन्द स्मिति द्वारा भगवान् ने ब्रजगोपियों का ताप निवारण किया उसी प्रकार श्रीयमुना सभी का ताप हरण करने वाली हैं । कलह आदि जीवन के दोषों को निवृत्त करती हैं ।

इस प्रकार श्रीयमुना जी सुन्दर घोष (शब्द) करती हुई प्रभु से मिलने के असीम आनन्द की किलकारी करती हुई ऐसी प्रतीत होती हैं मानो हिंडोला झूलती, प्रेम रस में झूमती हुई प्रभु के पास जा रही हैं । उन श्री सूर्यतनया यमुनाजी का जो भगवान् श्री मुकुन्द में प्रीति बढ़ाने वाली हैं महान् उत्कर्ष हो । यह उत्कर्ष त्रिभुवन को पावन करने वाला है । श्री यमुना के कूलों पर लता तरुवर पर शुक, मयूर और हंस आदि अनेक पक्षियों का कलरव ऐसा लगता है मानो मुनिगण श्रीयमुना की स्तुति कर रहे हों । जल तरंगों के कंकण श्रीहस्त में धारण करने वाली, अपने प्रिय को प्रसन्न करने वाली उन्नत तट रूपी नितम्वों वाली सुन्दरी श्रीयमुना को सभी नमन करें । यह आचार्य श्री का आदेशात्मक वाक्य है । इस प्रकार प्रणाम करने से निस्साधन भाव के साथ हमारे अहंकार की निवृत्ति होती है । और क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति का प्रभु में समर्पण होता है । श्रीयमुना श्रीकृष्ण की भाँति अनन्त सेवोपयोगी गुणों के आभूषणों से भूषित हैं मानो सभी गुण उनका स्पर्श प्राप्त करके दिव्य बन गये हैं । ऐसी श्रीयमुना की शिव और व्रह्मा आदि सभी स्तुति करते हैं । और ध्रुव, पराशर आदि ने उनके तट पर तपस्या करके अपना इष्ट फल प्राप्त किया है । उसी प्रकार हमें भी अपना इष्ट जो भगवत्सेवा, स्मरण तथा समर्पण द्वारा भगवान् की कृपाप्राप्त कराने में प्रभु की प्रिया श्री यमुना जी सहायक हैं ।

भगवान् के पधारने से जो मथुरा मोक्षपुरी का तट विशेष रूप से शुद्ध हो गया है उसके चारों ओर गोप और गोपियों के यूथों ने भी अपना मनोरथ श्री यमुना की अलौकिक कृपा से प्राप्त किया है । लौकिक कृपा से अलौकिक अनुग्रह नहीं मिलता । किन्तु श्रीयमुना अलौकिक अनुग्रह दान करने में समर्थ हैं जिनके द्वारा लोक वेद से परे परव्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है । यही उनका अभीष्ट फलदान है । जिस फल की प्राप्ति से कृपा रूपी मधुर सागर का निर्मल नीर हमारे मन में परमानन्द सुख की अनुभूति कराता है । यह श्रीमदाचार्य जी प्रार्थना करते हैं । श्रीयमुना कृष्ण की चौथी प्रिया हैं और जो कृपा- कटाक्ष से सकल सिद्धि देने वाली हैं उनका स्मरण और सेवन करने का आचार्य श्री हमको निर्देश

देते हैं ।

भक्तों के जीवन में सेवा के लिये पुरुषार्थ देने वाली यमुना को आचार्य श्री अपने मन में स्थित करते हैं । जिस अन्तःकरण में श्री भानुतनया यमुना जी निवास करती हों उनके लिये यम-यातना ही क्या किसी भी प्रकार की यातना और त्रास हो नहीं सकता, यह निश्चय है । इस निश्चय को हम अपने मन में धारण करें और श्री यमुना की करुणा के प्रवाह रूपी जलपान से अपने को और समाज को पवित्र बनाएँ । यह पवित्रता आचरण और विचार दोनों की होनी चाहिये । किन्तु आजकल इसका अभाव है । यह कारण है कि हम श्री यमुनाष्टक की फलश्रुति जो श्रीवल्लभाचार्य ने वर्णन की है, उसको नहीं पा सकते । वह फल है समस्त पापों का विनाश, और स्वभाव पर विजय प्राप्त करना ।

हम दुनियाँ पर विजय पाने की सोचते हैं । शत्रु पर विजय पाने की कामना करते हैं किन्तु हमारे स्वभाव पर हम विजय प्राप्त नहीं कर पाते । जीव तो स्वभाव से ही दुष्ट होता है और जब वह अपने स्वभाव पर और दोषों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब फिर दुखी होने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । यह बात सभी को गम्भीरता से सोचनी चाहिये क्योंकि हमारे जीवन में और समाज में विगठन और असंतोष का कारण हमारा स्वभाव है और अपने दोष ही हैं । हम दूसरों के दोषों को बडे प्रयत्न से देखते हैं परन्तु अपने दोषों का विचार नहीं करते । दूसरे के घर में देखने के लिए तिपाई पर चढ़कर झाँकने का प्रयत्न करते हैं; चाहे ऐसा करते हुए हम खुद ही उल्टे हो जाये, इस की हमें चिन्ता नहीं है । प्रायः ऐसा करने में ही हमारा समाज उलट गया है । आचरण और विचार भी विपरीत हो गये हैं । हम अपने कर्तव्य को भूल गए हैं । स्वधर्म का जीवन में क्या महत्व है, यह हम सोचते भी नहीं है । इसीलिये हमारा समाज विखर गया है क्योंकि हमने सेवा, समर्पण और स्नेह पर आधारित हमारे सिद्धान्तों को अपने जीवन में स्थान नहीं दिया । श्रीवल्लभाचार्य को हमने अपने व्यक्तिवाद में विगठन कर दिया । अब श्री आचार्यचरणों की कृपा और श्री यमुनाष्टक के चिन्तन से हम सच्चा मार्ग और सही जीवन प्राप्त करें । इतना कहकर मैं वक्तव्य पूर्ण करता हूँ ।

(प्रेषक वालकृष्ण नारायणदास शेठ, घाटकोपर)

'विवेकधैर्याश्रय'

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने वैष्णव जीवन के संस्कार के लिए षोडश ग्रंथ अर्थात् सोलह छोटे ग्रंथ बनाये हैं, जिनके द्वारा हमें सुन्दर मार्गदर्शन मिलता है और हमारा जीवन संस्कारी वनता है साथ ही 'विवेकधैर्याश्रय' जैसे ग्रंथों में धार्मिक व्यवहार की अनुपम शिक्षा भी है, जिसे मन में दृढ़ करने पर हमारे नित्य के व्यवहार और विचार सुन्दर बनते है ।

यह तो सभी जानते हैं कि जिस व्यक्ति में विवेक और धैर्य नहीं होता, वह व्यक्ति हमेशा दुःखी रहता है । इसी प्रकार लौकिक आधार पर विवेक और धैर्य रखने वाले व्यक्ति भी हमेशा मन से या तन से विचलित होते देखे जाते हैं । इसलिए भगवान् सेवा में और स्वधर्म में बाधा न आए इस उद्देश्य को सम्मुख रख कर भगवदाश्रय से विवेक और धैर्य की रक्षा करनी चाहिए । लौकिक साधनों पर विवेक और धैर्य की रक्षा करने पर उससे अभिमान होता है एवं स्वार्थपरक विवेक और धैर्य वास्तविक नहीं होते । यह समझाने के लिए भगवदाश्रय करने वाले भक्त को विवेक और धैर्य की रक्षा सदा और निरन्तर करनी चाहिए, ऐसा कर्तव्य -निर्देश करने के लिए महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी ने 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रंथ की रचना की है ।

यदि 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रंथ का भावपूर्वक नित्य चिन्तन किया जाए तो मनुष्य अपने जीवन में वहुत से दुःखों से छुटकारा पा सकता है । वह प्रत्येक परिस्थिति में अपने मस्तिष्क का संतुलन रख कर भगवान् का दृढ़ आश्रय रखते हुए सभी प्रतिकूल परिस्थितियों को अपने अनुकूल वना सकता है ।

आज समाज के अधिकांश व्यक्ति संघर्ष तो करते हैं किन्तु 'मास मीडिया' के सामने स्थिर नहीं रह पाते और अन्त में शिथिल होकर परिस्थितियों से घिर जाते है । इस प्रकार उनके जीवन में अनेक कुंठाओं का जन्म होता है । उनसे वचने के जितने साधन या मनोरंजन वह खोजता है, वे या तो व्यसनों पर या अनाचार पर आश्रित होते हैं और अन्त में इनसे उसका पतन होता है । यही समस्या आज के युवावर्ग की भी प्रधान समस्या है।

वैदिक षोडश संस्कारों के समान षोडश ग्रंथों से भगवदीय जीवन के षोडश संस्कार हमें प्राप्त होते हैं । संस्कारविहीन जीवन और सभ्यता मानव-जीवन को व्यवस्थित नहीं वना सकते । इन सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि

हम आचार्य श्री वल्लभ के महत्वपूर्ण उपदेशों को सत्य निष्ठा से अपने जीवन का अंग बनायें और सुख, शान्ति और सदाचार का वातावरण सृजित करें । यही वास्तविक उन्नति का साधन है ।

भक्ति की विशेष दृढता प्राप्त कराने के लिए महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ की रचना की है । कलियुग में ज्ञान, कर्म, उपासना आदि सभी मार्ग कष्टसाध्य हैं । और प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति आचार-विरोधी वन गई है । विरुद्ध आचरण करना, इतना ही नहीं, किन्तु उसमें तत्पर रहना उसका स्वभाव सा बन गया है । ऐसी स्थिति में केवल भगवदाश्रय के द्वारा ही मन पवित्र वन सकता है ।

हमारा मन श्री प्रभु से विमुख न हो और स्वधर्मपरायण रहे । हमारा यह निर्मल विचार दृढ़ वने कि भगवान् जो कुछ करेंगे, अपनी इच्छा से करेंगे । ऐसा भावात्मक अनुसन्धान रखने से चित्त में व्यग्रता नहीं होगी । यह विवेक का मुख्य रूप है । ऐसा भाव रखते हुए किसी प्रकार की अपेक्षा हो तव भी प्रभु से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए क्योंकि भक्तों का हित तो भगवान् हमेशा करते हैं । ऐसी निरन्तर दृढ़ भावना रखते हुए भगवत्सेवा करते रहना चाहिए । विवेक के नौ स्वरूप हमें आचार्य श्री वतलाये है । कैसी भी विपत्ति या आपत्ति आ जाए तव भी धैर्य का त्याग कर भगवत्सेवा से विमुख होना उचित नहीं है ।

(प्रस्तुति - श्रीमदनदासजी मोहता, कोटा)

भगवदीय जीवन

श्री हरिरायजी कृत शिक्षापत्र वैष्णवों का सदाचार ग्रन्थ है । जिसमें आचरण, विचार और व्यवहार का विश्लेषण करते हुए श्रीहरिरायजी ने वैष्णव जीवन में कर्तव्य की वाधा को दूर करने के लिये अपने चिन्तन की दिशा वैष्णव कैसे वदले यह भावनात्मक रूप से विवेचन किया है । इसका मुख्य कारण यह है कि वाधा आने पर मनुष्य का मन उसी का निरन्तर मनन करता है ।

इस स्थिति में उस वाधा से सम्बन्धित कल्पनाओं का जाल निरंतर चिन्ता का कारण वन जाता है । इससे वाधा दूर होने के स्थान पर और उग्ररूप में विकट होकर हमारे चिन्तन को विकृत कर देती है । अतः हम अपने कर्तव्य का भी भलीभाँति पालन नहीं कर सकते । और जब मनुष्य कर्तव्य- पालन में शिथिल होने लगता है तो बाधाएँ दूर होने के स्थान पर और बढ़ जाती हैं । इस प्रकार साधारण समस्या भी-विचारों के भार से महान् लगने लगती है । इन समस्याओं को दूर कैसे किया जाय इसके विषय में जितना भी विचार होगा वह स्वार्थ-मिश्रित होगा और जिस स्वार्थ के कारण अथवा जिस भावना के वशीभूत होकर मनुष्य चिन्तित हुआ है उसका समाधान उसी के आधार पर वह नहीं कर सकता ।

इस स्थिति को प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रूप से पहले सोचता है और जब एक लम्बा समय वीत जाता है तो उसके लौकिक धैर्य की सीमा जो लौकिक स्वार्थ पर आधारित है वह भी टूट जाती है । ऐसे समय में किसी भी समस्या का समाधान तो दूर की बात है- यदि कोई अपने कर्तव्य का ही निष्पक्ष भाव से निर्णय करके दृढ़ता से उसका आचरण करे तो यह सम्भव है कि वह आने वाली बाधाओं की विभीषिका से मुक्त हो जायगा । किन्तु इसके साथ ही यह भय भी रहता है कि वह निर्णय ऐसा न हो जो जीवन में गलत दिशा की ओर ले जाय । इसका निर्णय करना ऐसी स्थिति में बड़ा कठिन होता है और जो लोग हमें परामर्श देते हैं उनका भी अपना दृष्टिकोण स्वार्थ पर आधारित होता है और वह भी सलाह देते समय अपने स्वार्थ पर आधारित ही विचार करेगा । चाहे वह हमारे सम्वन्धी हो या मित्र हो । परन्तु ऐसे समय मे यदि कोई स्वार्थविहीन कर्तव्य पालन की वात करेगा तो उसकी वात को मानना भी उस व्यक्ति के लिए कठिन होगा जो तटस्थ भाव से- उसके प्रति सहानुभूति रखते हुए परामर्श देगा । क्योंकि उससे हमारा परिचय आदर्श तक ही सीमित होता है और व्यवहार में मनुष्य आदर्श की वातें करता है किन्तु उसे चरितार्थ नहीं करता श्री हरिरायजी ने इस दिशा में मननीय मार्गदर्शन दिया है। यह वैष्णव जनों का सदाचार ग्रन्थ होने के साथ साथ स्वाध्याय ग्रन्थ भी है जैसे चौरासी और दो सौ वावन वैष्णव भक्तों के चरित्र प्रत्येक वैष्णव के लिये सिद्धान्तों के साथ मननीय हैं, उसी प्रकार

ये इकतालीस शिक्षापत्र भी मनन करने योग्य हैं ।

सामान्य मनुष्य भी यह सोचता है कि एक ही वस्तु और विचार नित्य कैसे किया जा सकता है । किन्तु यदि गंभीरता से विचार करें तो ऐसे बहुत से आचरण और विचार हैं जो एक से ही हैं और मनुष्य उन्हें नित्य ही दोहराता हुआ उदासीन नहीं होता । उनमें अपनी मानसिक वृत्ति के आधार पर क्रिया या विचार एक से होने पर भी विविधता या नवीनता का अनुभव भावना के अनुसार करता है । इसलिये यह विचार करना उचित नहीं है कि एक ही वस्तु या ग्रंथ चिन्तन से मनुष्य का मन ऊब जाता है । जव हमारी निष्ठा और स्नेह सदाचार के प्रति होता है साथ ही उसके प्रति आदर की भावना आती है तो एंक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से प्रतिदिन विचारों की नवीनता चिन्तन के आधार से हमें प्राप्त होती है । ऐसे चिन्तन में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं उसमें मौलिकता से ही हम भटक न जाय । आज के मनस्वी धार्मिक चिन्तन में यह दोष है । और यह अतिवादी बुद्धि का विभ्रम है । जैसे विभ्रम से विचारों का पूर्वापर का सम्वन्ध नहीं रहता वैसे की जीवन में भी आगे पीछे का होश नहीं रहता ।

श्री हरिराय महाप्रभु ने हमें लीला चिन्तन की विविधता के साथ ही जीवन के आचरण और विचारों का समन्वय भी स्थापित करने को प्रेरित किया है । भावना का चिरंतन विचरण अपने मूल से नहीं भटकता यह इसकी विशेषता है, और भगवदीय जीवन की मौलिकता भी इसी में निहित है । इसका प्रत्येक विचार प्रभु सुख के माध्यम से होता है यह पुष्टिभक्ति के जीवन दर्शन की विशेषता है । हमारा लौकिक का विचार स्वसुख के माध्यम से होता है । जिसमे कभी जीवन ही भटक जाता है । श्री हरिराय जी के शिक्षापत्र का स्वाध्याय हमारे जीवन में भावना आचरण और विचारों में आस्था के साथ ही भगवदीय व्यवहार की वास्तिकता का बोध कराता है ।

शिक्षापत्र के प्रारम्भ में भगवदीय के व्यवहार की शिक्षा और वैष्णवोपयोगी जीवन का उपदेश है । जिस प्रकार अर्जुन के विषाद की निवृत्ति करके भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे कर्तव्य का वोध दिया था उसी प्रकार भक्त के जीवन में आने वाले उद्वेग से सेवा और कर्तव्य में वाधा न हो इसके निवारण के लिये श्री हरिरायजी ने अपने भ्राता श्री गोपेश्वर जी को ये पत्र पहले ही लिखने प्रारम्भ किये थे । अर्जुन के समक्ष अपने कर्तव्य-निर्धारण का प्रश्न था किन्तु श्री गोपेश्वर जी सामने कर्तव्य में वाधा न हो यह प्रश्न उपस्थित था। भक्तिमार्गीय कर्तव्य तो पहले से ही निश्चित है। उसके पालन में लोक या व्यवहार की वाधा होने से सेवा भावना में प्रतिवन्ध होता है । उसको मनन के द्वारा किस प्रकार निवृत्त करना चाहिये जिससे देहधर्म आत्मधर्म से प्रतिकूल प्रतीत न हो और जीवन में ऐहिक उद्वेग विचार एवं आचरण को विकृत न कर दें इसका सरल उपाय हमें इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वताया गया है ।

भगवद्गीता की समाप्ति शरणागति में होती है और शिक्षापत्र का प्रारम्भ ही शरणागति

के बाद होता है। जब तक भगवान् की शरण भावना हृदय में स्थिर नहीं होती तब तक मनुष्य के चित्त की चंचलता दूर नहीं होगी और चंचलता के दूर किये बिना उद्वेग भी नहीं मिटेंगे । इनका यह परस्पर सम्बन्ध मानसिक है और यह स्वभाव ही बन जाता है । जैसे कोई डूबने वाला व्यक्ति सहारा चाहता है ऐसे ही उद्वेग की स्थिति में मनुष्य को भी सशक्त सहारे की आवश्यकता होती है। यह सहारा लौकिक रूप से शक्तिशाली नहीं हो सकता क्योंकि उसमें स्वार्थ की कमजोरी रहती ही है । इसलिये जब तक निष्ठा के द्वारा किसी अलौकिक चिन्तन का सहारा नहीं लिया जाता लौकिक उद्वेगों का निवारण लौकिक साधना या किसी प्रकार का अन्य उपायों से नहीं होगा । प्रायः ऐसी अवस्था में मनुष्य नशा करना और अन्य ऐसी ही गलत आदतों का शिकार बन जाता है । और ऐसी आदतें समस्या का समाधान तो नहीं करती, किन्तु उनसे मानसिक उद्वेग बढ़ते ही हैं । और इस परिस्थिति में किसी भी प्रकार का गलत आचरण होने की पूरी संभावना रहती है । यह समस्या आज के समाज में भी देखी जा सकती है । वास्तविक दृष्टिकोण से विचारने पर आज के भौतिक समाधान और साधन अपने आप में विफल होते जा रहे हैं । इसका मूल कारण उनका भौतिक स्तर ही है जिससे भावना को ऊंची नहीं बनाई जाती और अपनी आवश्यकता के आधार पर उचित अनुचित का विवेक किया जाता है । किन्तु यह नहीं सोचा जाता कि हमारी भावना किस सीमा तक उचित है और किस स्थान पर जाने से वह विकृत हो जायगी। अतः इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक स्थिति में मनुष्य का विवेक नष्ट न हो और उसका जीवन किसी भी परिस्थिति में विकृति की ओर न जाय साथ ही भगदाश्रय के द्वारा उसका मनोबल भी नष्ट न हो । इस विषय में धर्म एवं दर्शन द्वारा उसे किस प्रकार मार्गदर्शन दिया जा सकता है ? इन सभी तथ्यों पर श्री हरिरायजी ने भगवत्सेवा में प्रतिबन्ध न हो इस दृष्टि से गंभीर एवं सरल विचार किया है । महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने भी इस विषय में उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि उद्वेग प्रतिबंध एवं भोग ये तीनों ही भगवत्सेवा एवं धर्मभावना में प्रतिबंधक हैं । इसमें उद्वेग से सामान्य रूप से सभी परिचित हैं और प्रतिबंध में लौकिक एवं अलौकिक दो प्रकार के प्रतिबंध हैं । जब स्वयं भगवान् फलदान की इच्छा नहीं करते तो यह अलौकिक प्रतिबंध जीव-स्वभाव के कारण बाधक बन जाता है । यह बात इसीलिये कही गई है कि मानसिक स्थिरता और आश्रय में कमी के कारण कभी मनुष्य अपने विश्वास से हट जाता है और सदाचार से स्वार्थ के कारण या किसी भी प्रकार से वह धार्मिक निष्ठा खो देता है तब उस व्यक्ति के प्रति दुर्भावना न करके यह कारण समझना उचित है कि प्रभु उसे किसी अन्य मार्ग पर ले जा रहे हैं ।

विवेक और धैर्य भक्ति के अंग हैं । यह स्पष्ट ही विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में स्पष्ट उल्लेख हैं । इन दोनों अंगों को किस प्रकार प्रभु के आश्रय से निभाया जाय यह शिक्षापत्र का व्यावहारिक विषय है । जिसे भावात्मक और धार्मिक दृष्टि से श्री हरिरायजी भलीभाँति हमें समझाते हैं । यह स्वाभाविक है कि मानसिक उद्वेग की अवस्था मे मनुष्य अधीर

होकर इन बातों पर ध्यान नहीं दे सकता । और जैसे डूबने वाला भी यदि सावधानी से अपने बचाने वाले का आश्रय नहीं लेता या बचाने वाला उसको सावधानी से नहीं बचाता तो दोनों ही डूब जाते हैं इसी प्रकार घबराया हुआ व्यक्ति भी सिद्धान्तों से विचलित होकर धर्म एवं स्वयं को विकृत बना लेता है । ऐसी स्थिति में उसे सत्संग और भगवदीय सिद्धान्त ही बचा सकते हैं । क्योंकि मनुष्य की जैसी संगति होगी उसी प्रकार की बुद्धि होगी । किन्तु सत्संग का अभाव है और जो भी सत्संग हैं उनमें भी मानव स्वभाव के कारण दोष उत्पन्न होने की संभावना है इस स्थिति में ग्रन्थों का श्रवण और अध्ययन विशेष उपयोगी है ।

सत्संग को श्री हरिरायजी दुर्लभ बताते हैं और इस विषय में अपनी चिन्ता भी व्यक्त करते हैं । इस तथ्य से यही समझा जा सकता है कि सत्संग का प्रकार दूषित न बने और उसके द्वारा मनुष्य को सही धार्मिक मार्गदर्शन मिले इस विषय का श्री हरिराय महाप्रभु संपूर्ण ध्यान रखते हैं और प्रत्येक भगवदीय को इस विषय में सतर्क रहने का निर्देश करते हैं ।

जिन आचरणों से हमें भगवत्सेवा में प्रतिवंध होता है उसी प्रकार लौकिक प्रतिबंध भी उन्हीं के द्वारा व्यवहार में होता है । आज प्रत्येक व्यक्ति की सत्यनिष्ठा विचलित हो गई है । लोग यह समझते हैं कि सच्चाई से काम नहीं चलता और सभी असत्य व्यवहार को बुद्धिमानी का पर्याय समझ कर एक दूसरे के प्रति कपट का व्यवहार करने लगे हैं । यह राजनीति का बुरा प्रभाव है जिससे लोक मानस विकृत हुआ और आज इस प्रकार की छलना प्रत्येक परिवार और हर व्यक्ति का सामान्य आचार बन गया है । सहन करने की तो तनिक सी भी प्रवृत्ति मनुष्य में नहीं रह गई है । इस विषय में भी हमें शिक्षापत्र के द्वारा यह सदुपदेश मिलता है कि भगवदीय व्यवहार में सहिष्णुता एक अनिवार्य गुण है । निवेदितात्मा जीव को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती क्योंकि कृपालु स्वभाव वाले श्रीकृष्ण कभी जीव की लौकिक में हीनगति नहीं करते । आत्मनिवेदन करने के बाद यह शरण भावना या प्रपत्ति ही यह मानव जीवन का सबल संबल है । यह शरण भावना उसे सहज स्नेह से ही प्राप्त होती है । यह निश्छल स्नेह ही प्रभुप्राप्ति का परम साधन है । और यह साधन भी भगवान् स्वयं कृपा करके देते हैं । इसलिये भक्त लौकिक वैदिक साधनों की कामना नहीं करता । केवल मर्यादा निर्वाह के लिये वह देह धर्म की रक्षा करता है । लौकिक वैदिक साधन तो देहबंधु के लिये होते हैं । भगवान् तो आत्मबन्धु हैं । उनको हम लौकिक साधनों से बाँध नहीं सकते । उनका सम्बन्ध तो जन्मजन्मांतर का स्थायी सम्बन्ध है । दुनिया के सभी संबंध छूट सकते हैं । परन्तु परमानन्द श्री पुरुषोत्तम का भक्त के साथ नित्य संबंध है । जैसे मीन का जीवन ही जल है उसी भांति (या गोकुल की जीवनि गुपाललाल प्यारो) ही है । जीवनि के बिना हमारा जीवन ही निरर्थक है । हम तो उसी के लिये हैं । यह भगवदीय जीवन का महान् दृष्टिकोण है । जिसे एक पुष्टि

भक्त को विभूतियोग द्वारा भगवान् को समझाने का श्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसकी सरल निष्ठा एवं कर्तव्य सुनिश्चित है । वह प्रभु का अविभाज्य अंश है और उन्हीं की सेवा के लिये उसका सर्वस्व है । मनुष्य जीवन की प्राप्ति का भला इससे पवित्र उद्देश्य क्या हो सकता है ?

भक्त न तो पाप और पुण्य के भोग के लिये आया है, न उसे अपने लिये कुछ स्पृहा है । वह तो प्रभु की सेवा के लिये उसकी नित्य ललित लीला का उपकरण है और उसका लक्ष्य आत्मबन्धु परमप्रेमास्पद प्रभु का श्रम-निवारण करना और उनकी प्रसन्नता सम्पादन करना है । यह उसकी सेवा का उद्देश्य है; और यही उसकी निष्ठा की कसौटी है । भक्त को अपने कर्तव्य के प्रति लेश मात्र भी शंका नहीं है । उसे प्रभु-कृपा पर पूर्ण विश्वास है कि भगवान् उसे कभी विचलित नहीं होने देंगे । यह आत्मविश्वास भगवदीय जीवन का दृढ आधार है । इसीलिये वह लोक और वेद के कार्यों में निश्चिन्त रहता है । उसे अपने सर्वसमर्थ प्रभु पर पूर्ण विश्वास और उनके प्रति अहैतुक स्नेह से अटूट निष्ठा है । तभी तो वह विश्वास से कहता है कि "नाचत हम गोपाल भरोसे" । जीवन में भौतिक विश्वास और साधनों पर भरोसा हमें धोखा दे सकता है किन्तु भगवान् का भरोसा ही एक ऐसा भरोसा है जिससे किसी भी स्थिति में हमारा आत्मविश्वास नहीं डिग सकता ।

इस प्रकार भगवान् के भरोसे नाचने वाले भक्त के साथ स्वयं प्रभु भी प्रसन्न होकर नृत्य करते हैं । तव अनायास ही मुख से यह भाव व्यक्त होते हैं कि "कौन सुकृत इन व्रजवासिन को "। हरिरायजी के भावात्मक उपदेश वैष्णव जीवन के महान् मार्गदर्शक के रूप में हमें प्राप्त हैं । इनके अनुसार यदि हमारा समाज अपना आचार और विचार बनाने का प्रयत्न करेगा तो ऐहिक और पारलौकिक जीवन में उन्नति करके एक आदर्श जीवन प्रणाली द्वारा समस्त समाज का कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त होगा और स्वधर्म के द्वारा हमारी ऐहिक अनेक समस्याओं का समाधान स्वतः हो जायगा ।

इस विषय में सभी वैष्णवों को हृदय से मनन करके अपने आचरण और विचार हृदय से सुधारने का प्रयास करना चाहिये । तभी समाज के सुख शान्ति एवं विश्वास का वातावरण बन सकेगा । जब तक व्यवहार में लौकिक छल कपट का आश्रय लिया जाता रहेगा तब तक समाज की नैतिक उन्नति नहीं होगी । और जिस समाज में नैतिकता स्वधर्म के अनुसार स्थापित नहीं है वह कभी बुराइयों से छुटकारा नहीं पा सकता ।

यह मानना ठीक नहीं है कि धार्मिक विचार समाज को अद्यतन चिन्तन से रोकते हैं । किन्तु हमारे आचरण और विचार को विवेक तो धार्मिक दृष्टिकोण से ही मिलेगा । जैसे यह सोचा जाता है कि जो कुछ पुराना है वह आज स्वीकार्य नहीं है तो इसके साथ यह भी सोचना है कि जो कुछ आज है वह सभी स्वीकार्य नहीं हो सकता । स्वधर्म के आचरण द्वारा जो विषमता और घृणा के निवारण की आर्ष परम्परा है वह इतनी सुदृढ़ है कि उससे जो समाज में विशालता आयेगी वह चरित्र पर आधारित सही विशालता होगी।

और विचारों की विषमता स्वधर्म द्वारा हटेगी वह आज की इस कृत्रिम दिखाने मात्र की एकता से कहीं उन्नत और सच्ची होगी । अतः यह मेरा सभी से आत्मीय अनुरोध है कि सभी वैष्णव अपने धर्म को जानने का अन्तःकरण से प्रयत्न करके जीवन को जितना भी संभव हो सके उस दिशा में प्रेरित करने का प्रयास करें । आशा है, भगवदाश्रय से हम सभी स्वधर्म के अनुकूल जीवन बनाने की महत्ता को समझ कर अपने चिन्तन की धारा को बदलेंगे । और जीवन की विगठनात्मक स्थिति को रोक कर अपने जीवन और समाज को भगवदीयता की विशेषता से परिचित करायेंगे ।

अक्षर सृष्टा श्री प्रथमेश

हमारे सेवा-सदाचार का विहंगावलोकन

वल्लभ संप्रदाय की आचार पद्धति शुद्ध वैदिक विधि पर आधारित इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह का देह शुद्धि के हेतु तपस्वी प्रकार है । बहुत से लोगों की यह मान्यता है कि सेवा में शृंगार वस्त्र आदि मुगलों के प्रभाव से ग्रहण किये गये हैं किन्तु गंभीर दृष्टि से देखने पर यह तथ्य सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि मुगलों की प्राचीन संस्कृति में इस प्रकार की वेशभूषा हमें दृष्टिगत नहीं होती, और आज भी यह परिवेश उनका नहीं है । औरंगजेव अपने जीवनकाल में टोपियाँ सिया करता थे और उनको बेचकर निर्वाह करते थे, यह बात सर्वविदित है । तुर्की टोपी का परिवेश ही मुगलों का परिवेश था अन्यथा औरंगजेव की धर्मांधता इसको स्वीकार न करती । बादशाही पोशाक जिसमें पाग एवं झग्गा का संमिश्रण हुआ यह क्षत्रिय परम्परा एवं भारतीय परम्परा थी । यह मानकर चलना सर्वथा असंगत है कि भारतीय कला और पुष्टिमार्गीय कला शृंगार आदि मुगल काल की देन है । चौसठ कलाओं का उल्लेख हमारे शास्त्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है । गणित एवं ज्यामितिक कला भारत से ही बाहर गई है । नौ सौ साल की दासता ने संभवतः आत्मान्वेषण की वृत्ति बदल दी है । अतः इस प्रकार अनुमान किया जाता है । टोपी, झगुली, झगा, पाग, किरीट, मुकुट, खूँप, टिपारो, दुमालो, पगा, फैंटा, पटुका, गोटी पगा, एवं कुल्है यह सभी भारतीय परिधान (वेशभूषा) में सम्मिलित हैं । आर्य संस्कृति के प्राचीन अवशेष आज भी मुगल देशों में प्राप्त हैं। अतः यह कल्पना करना कि शृंगार सेवा में मुगलों की परिपाटी अपनाई गई है यह एक भ्रामक धारणा प्रतीत होती है । सूथन और पाजामा में भी अन्तर है और अंगरक्षिका के रूप में बन्ध खुले एवं बँधे होते हैं । साथ ही तनियां भीतर धराते हैं। अतः इन सभी बातों पर गंभीरता से निष्पक्ष होकर अन्वेषण की आवश्यकता है । यह बात नहीं है कि वल्लभ संप्रदाय मुगलों से घृणा करता है । क्योंकि सभी धर्म भगवान् ने अपनी ही इच्छा से बनाये हैं और दैवी आसुरी सृष्टि भी उन्हीं के द्वारा विचारपूर्वक रची गई है । अतः भिन्न-भिन्न कर्तव्य एवं रुचियों से घृणा करने की बात या विषम विचार करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । पुष्टिमार्गीय जीव केवल प्रभु सेवोपयोगी जीवन बनाने एवं भगवत्सुख के विचार में विश्वास करता है ।

अतः उनकी परंपरा भिन्न होते हुए भी अन्य कार्यों से उनका लौकिक दृष्टि से आदरणीय संबंध हो सकता है किन्तु अनन्य आश्रय तो भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का ही स्वीकार किया गया है । देहधर्म की रक्षा भी भगवद्धर्म सिद्धि के लिये ही की जाती है । इन सभी बातों पर तात्त्विक विचार से ही निर्णय करना चाहिये कि श्री वल्लभाचार्य एवं परवर्ती आचार्यों ने जिन शब्दों का सेवा में प्रचलन किया वे अधिकांश संस्कृत एवं व्रजभाषा की देन है । नक बेसर, चिबुक, पोंहची, भुजबन्ध, अनवट, (अंगुष्ठान), बीछिया,

पगपान हस्तफूल कुण्डल, अलकावलि, तिलक, खोर, करधनी (कटिपेच), शीशफूल लड, कंठाभरण (पायल) पैजनि एवं नूपूर आदि सभी वस्तुएँ भारतीय शैली में ही निर्मित होती हैं । मीनाकृति, मयूराकृति एवं मत्स्याकृति के कुण्डल भी भारतीय शैली मे ही निर्मित होती है । मीनाकृति मयूरराकृति एवं मत्स्याकृति के कुण्डल भी भारतीय शृंगारिक परिभाषा के शब्द है । हार, हमेल (मेखला) भी शृंगार की चर्चा में दृष्टिगत होते हैं । अतः एकपक्षीय एवं तटस्थ रहने की धुन में अपनी मौलिक वस्तुओं के तथ्यों की उपेक्षा करना और उनके रूपान्तरण पर विचार न करना युक्तिसंगत होते हुए भी उचित नहीं होगा जब तब इसके विषय में मौलिक चिन्तन नहीं किया जाता । पान, सुपारी आदि वैदिक परम्परा में मुख शुद्धि के लिये मांगलिक प्रसंगों पर स्वीकृत वस्तु हैं । जो भारतीय पूजा विधि के विधानों से परिचित हैं उनको यह जानने में विलम्ब नहीं होगा कि वेद में चरू, पुरोडाष एवं पयःपक्व वस्तु का हमें उल्लेख यज्ञ विधि में प्राप्त होता है उसी के आधार पर सखड़ी, अनसखड़ी एवं दूधघर की मर्यादा प्रतिष्ठित है ।

श्री वल्लभाचार्य ने वेद के पूर्वकाण्ड को यज्ञरूप हरि का स्वरूप निवन्ध में स्वीकार किया है । **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह वेद की श्रुति का उदाहरण भी सुवोधिनीटीका में प्राप्त है। अतः सेवा का स्वरूप भी एक यज्ञात्मक स्वरूप है जिसे हम ब्रह्मयज्ञ भी कह सकते हैं । वेद में यह विधान है कि **'यावज्जीवंअग्निहोत्रं जुहुयात् ।'** जब तक जीवन है अग्निहोत्र करो। इसका व्यापक आशय ही श्री वल्लभाचार्य ग्रहण करते हैं और जिनको अग्निहोत्र की परम्परा प्राप्त नहीं है उनको भी वल्लभाचार्य ग्रहण करते हैं । और जिनको अग्निहोत्र की परम्परा प्राप्त नहीं है उनको भी भगवत्सेवा और स्मरण का विधान वेदसम्मत है । अतः प्रत्येक व्यक्ति भगवत्सेवा में निष्ठा होने पर वह प्रभुसेवा अपने घर में करेगा और कथा श्रवण एवं उपदेश के लिये समित्पाणि होकर गुरु गृह में जाएगा यह वेद का विधान है । और इस प्रकार सेवा रूपी ब्रह्म यज्ञ के अनुष्ठान एवं देहधर्म लोकधर्म की रक्षा का लिये द्रव्य की शुद्धि भी करेगा अन्यथा अशुद्ध वस्तुओं के ग्रहण से देह-विकृति होगी, विचार-विकृति होगी जिससे भगवत्सेवा में प्रतिवन्ध होगा उसे दृष्टिगत रखते हुए सेवोपयोगीद्रव्य-शुद्धि करता है और सर्व शुद्धि प्रभु को समर्पण करने के वाद होती है । इसीलिये प्रसाद ग्रहण करता है क्योंकि साधनों द्वारा सर्व प्रकार से शुद्धि होना संभव नहीं है । साथ ही साधनाश्रयी जीवन भगवदाश्रय नहीं कर सकता और ब्रह्म साधनसापेक्ष नहीं, स्वतंत्र है इसलिए हम अपने लोक वेद एवं साधनों का समर्पण करते हैं और उनको प्रभुसेवा के लिये लोकवेद की विधि से भी अपने देह धर्म की रक्षा के लिये शुद्ध करते हैं । यदि ऐसा न करें तो मर्यादा भंग होगी और लोक में अनवस्था दोष आ जाएगा । और जिसका जीवन अव्यवस्थित है वह प्रभु तक जाने में समर्थ नहीं होगा अनाचार में ही वह प्रवेश करेगा । उक्त बातों को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य श्री की मर्यादा शुद्धि के प्रकार का विश्लेषण एवं संकलन श्री पुरुषोत्तमजी ने द्रव्य शुद्धि में किया है । पाक राजेश्वर में पाक कला की सात विधियां

बताई हैं । उसमें से तान्दूर (तन्दूर) का उपयोग यवन संस्कृति में हैं । शेष छह विधि का ही उपयोग भारत में होता है, जिसमे क्वाथ बनाना, तलना, भूंजना, पुटपाक आदि सभी सुन्दर रूप में ब्रह्मयज्ञ या भगवत्सेवा में प्रयुक्त होती हैं । जिसमें तैल, घृत, पय इन तीनों प्रकारों की अलग व्यवस्था है । यद्यपि चरु में खीर दूध में पके चावल भी आते हैं किन्तु वार्ता प्रसंग में यह देखा जाता है कि वह प्रभु की आज्ञा से विशेष रूप में आचार्यश्री ने ग्रहण की तव से अनसखडी मानी गई किन्तु प्रथम गृह में मर्यादा के अनुसार वह सिद्धि अनसखडी में होती है और भोग सखड़ी में आती है और जगह यह प्रकार नहीं है । इस यज्ञ में चार प्रकार के कर्मठ व्यक्ति होते हैं जिनमें होता, उद्गाता, अध्वर्यु, आह्वाता, एवं ब्रह्मा ये चार होते हैं । आह्वाता का कार्य मुख्य सेवक करते हैं । ओदगात्र कीर्तिनियां करते हैं । अन्य जल लाना पाक सिद्ध करना आदि अर्ध्वयु की सेवा है । अधिकारी ब्रह्म का कार्य व्यवस्थापन करता है । यजमान एवं यजमान पत्नी आचार्य एवं आचार्य पत्नी हैं जो मुख्य कार्य संपादन करते हैं एवं वैष्णव शिष्य समाज इन्हीं की आज्ञा से सेवा करता है । बिना वरण किये यज्ञ में कोई कार्य होता ही नहीं अतः जीव ब्रह्म का और ब्रह्म जीव का परस्पर वरण करते हैं और दोनों ही कहते हैं 'व्रतोस्मि' मेरा वरण हुवा या मैंने किया है यही परस्पर संबंध है जीव एवं ब्रह्म का । जव तक प्रभु स्वयं स्वीकार नहीं करते तव तक जीव अपने साधन से उन तक नहीं जा सकता । यही अनुग्रह है जिसका मूल हमें वेदमाता गायत्री के वरेण्य पद में मिलता है । सेवा में जो पूर्णपात्र (डबरा, डवरिया) कटोरा आदि या स्थाली जिन्हें कहा जाता है वह अपूर्ण नहीं रखे जाते अतः छोटे बड़े जैसा भी उपयोग हो पूर्ण भरे हुए आते हैं । आधा या अपूर्ण व्यक्ति का भी भगवत्सेवा में उपयोग नहीं होता अतः अपरस का ध्यान रखना आवश्यक है । यह अपरस क्रोध आदि आने पर नहीं रहती इसीलिये क्रोध आने से श्री विट्ठलेश प्रभु चरण ने अपने पुत्र श्री गोकुलनाथजी को स्नान करने की तीन बार आज्ञा दी । अतएव यह स्पष्ट है कि अपरस, खासा सेवकी कार्य का अर्थ या सम्वन्ध छुआ-छूत जैसे ओछे शब्दों से नहीं है । यह केवल आधुनिक भाषा मात्र है जिसका आधार घृणा है और यह सदाचार है जिसका व्यवहार सेवा में होता है । इसका तात्पर्य आत्मशुद्धि सेवोपयोगी देह के लिये इंद्रिय निग्रह के लिये हैं । इसमें विषमता और घृणा की परिकल्पना करने से भी अपरस नहीं रहती क्योंकि ब्रह्मनिर्दुष्ट एवं सम है और उसके कार्य में आने वाली प्रत्येक वस्तु भी भगवदात्मक है । इसीलिये श्री हरिरायजी ने शिक्षापत्र में भगवत्सेवा के उपयोग में आने वाली वस्तु में भगवद्बुद्धि रखने के निर्देश दिया है । लौकिक देह वुद्धि से (जल) जीवन में जड़ता आती है और काल धर्म वाधा करते हैं यह प्रसंग सुवोधिनी में आचार्य श्री द्वारा स्पष्ट किया गया है । साथ ही सेवा व्रजका लोक जीवन है जो सभी प्रभु के लिये प्रभुपरक स्वयं ही बन गया वही भगवदीय जीवन का भागवत में उल्लेख है जिसमें भगवान की दिव्यलीला सृष्टि प्रभु के द्वारा प्रभु के लिये और प्रभु से उत्पन्न वतलाई गई है । यही भाव व्यासजी ब्रह्म सूत्र में 'लोकवत्तुत्कीला कैवल्यं' इस सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है ।

भगवदीय जीवन का व्यवहार पक्ष

मानव जीवन में किसी भी परिस्थिति में किसी भी मानसिक उद्वेग की सम्भावना है। इसे कहीं लेने जाना नहीं पड़ता , वह तो स्वयं आता है। चाहे सुखद स्थिति हो , या हो दुःखद ।दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य को उद्वेग हो सकता है । शरीर में साधारण वेग जब नियंत्रण से वाहर हो जाते हैं तो वे ही हमारे उद्वेग के कारण वन जाते हैं । ऐसे ही किसी भी लौकिक स्थिति में कोई भी व्यक्ति उद्वेग का अनुभव कर सकता है ।

शारीरिक उद्वेगों की अपेक्षा मानसिक उद्वेग से मनुष्य जीवन में अधिक क्षति होती है । सामान्यतः मनुष्य मानसिक उद्वेगों को रोकने में समर्थ नहीं होता । धर्म में श्रद्धा रखने वाले भी अपने व्यवहार और विचार को धर्म के अनुसार नहीं वनाते, किन्तु यह आशा करते है कि उन्हें धार्मिक जीवन से मनोवांछित लाभ होना चाहिए । यदि उन्हें मनोवांछित लाभ नहीं होता तो धर्म या प्रभु या किसी भी देवता को मानने को तैयार नहीं होते और उस पर विश्वास कर पाते है । यही व्यवहार लोकव्यवहार है । लोक में भी हमारी मित्रता, शत्रुता इन्हीं विचारों से प्रेरित होती है किन्तु हम उसके उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर पाते और यह मान कर चलते हैं कि हम जो कुछ करते है, वह उचित है और उसे हमें उचित ठहराना है । ऐसी मान्यता वाले व्यक्तियों को न तो धार्मिक आचरण और विचार लाभ पहुँचा सकते हैं और न इससे उनके जीवन, व्यवहार एवं विचार ही सुधर सकते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता में वडी गंभीर बात कही है - 'मुझे स्मरण करते हुए संघर्ष (लड़ाई) करता जा । ' संघर्ष करना और स्मरण करना एक साथ सहज संभव नहीं है । चित्त या तो संघर्ष में रहेगा या स्मरण में । यह तो संभव है कि संघर्ष में वैर का या वैरी का स्मरण हो किन्तु लड़ना दूसरों से स्वार्थ के लिये और याद उसे रखना है, जिसका हमसे या हमारा उससे कोई न हो , यह कैसे संभव है? किन्तु भगवान् अपने को भक्त को असंभव आज्ञा भी नहीं कर सकते । तव इस आज्ञा को जीवन में कैसे अपनाएँ ? जीवन में उद्वेग और मानसिक विचार वाधक न वनें ऐसा जीवन कैसा वनाया जाय? इसका विवेचन श्री गोपेश्वरजी के माध्यम से समस्त वैष्णवों को भगवदीय व्यवहार की शिक्षा प्रदान की है -

सदोद्विग्नमनाः कृष्णदर्शने क्लिष्टमानसः ।

लौकिक वैदिकं चापि कार्यं कुर्वन्ननास्थया ।।१।।

निरूद्धवचनो वाक्यमावश्यकमुदाहरन् ।

मनसा भावयेन्नित्यं लीलाः सर्वाः क्रमागताः ।।२।।

अहंता (अभिमान) ,ममता एवं असत् आग्रह से मनुष्य के मन में उद्वेग होता है । मानसिक उद्वेग के ये तीन प्रधान कारण हैं । उद्वेग के समय मनुष्य कुछ कर सकता है।

जैसे मन में उद्वेग हो और आप कोई वाहन चलावें तो उसके टकराने की संभावना रहती है । इसी तरह घर में , समाज में या मन में अंतर्द्वन्द्व होने से अशान्ति उत्पन्न होती है।नदी में जव वाढ़ आती है तव भयंकर स्थिति होती है और विनाश का दृश्य दिखलाई देता है ऐसे ही मानसिक उद्वेग से जीवन, समाज, घर,परिवार आदि सभी की स्थिति बिगड़ सकती है ।

मनुष्य -जीवन में सवसे महत्वपूर्ण वस्तु मन है । शास्त्रों में मन ही बंधन और मुक्ति का कारण कहा गया है । वड़े-वड़े सिहों पर या बलशाली पशुओं पर या विशाल सेना पर नियंत्रण करने वाले व्यक्ति अपने मन पर नियंत्रण करने में सफल नहीं होते । इतिहास प्रसिद्ध विश्वविजेता शूर वीर अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सके । ऐसे अंतर्द्वन्द्व की स्थिति पर किसी प्रकार नियंत्रण किया जाय यह सरल विवेचन उपर्युक्त श्लोक की पहली पंक्ति से श्री हरिरायजी समझते है । यह व्यवहार का उपदेश भगवत्सेवा में या स्वधर्म -पालन में वाधा न हो इस उद्देश्य से समझाया गया है । इसका कारण यह है कि लोक व्यवहार में लौकिक बुद्धि के कारण स्वार्थ बुद्धि प्रधान होती है । उसके आधार पर निर्णय करने का निरंतर अभ्यास होता है । उसी से मन में भी उद्वेग होते हैं । जिस कारणों से उद्वेग हुए हैं उन्हीं के द्वारा उद्वेग समाप्त नहीं होते । जैसे रोग शरीर में होने पर उसका कारण जान कर पहले उसे दूर करना पड़ता है, उसी तरह भगवद्-बुद्धि और सेवा के प्रतिवंधों को दूर करने के लिए भगवदीय व्यवहार का उपदेश सेवोपयोगी जीवन के लिए समझाया गया है ।

इसका प्रारंभ मन से करने का मुख्य कारण मानसिक विचारों की दिशा वदलना है। जव तक मानसिक स्थिति और विचारधारा नहीं वदलती तव तक मनुष्य जीवन की प्रगति या परिवर्तन संभव नहीं है यही प्रणाली परिवार और समाज के परिवर्तन के लिये भी उपयुक्त है । भय या दवाव से आदर्श जीवन नहीं वनाया जा सकता । क्योंकि जव भी भय या दवाव दूर होगा तव वही आदत मनुष्य दुहरा सकता है । जैसे जंगल में किसी को सोना - चाँदी मिल जाय तो, उसे वह निसंकोच उठा कर अपने काम में ले लेगा, किन्तु दूसरे के घर से उसे चुराने में भय और दवाव ही रोकते है । ये दवाव भी जव मानसिक विकृति के कारण हट जाते है तो नैतिक नियंत्रण तोड़ कर मनुष्य सव कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है । वहाँ उचित एवं अनुचित का विवेक साहस और स्वेच्छा पर ही आधारित होता है । इस स्थिति को केवल नैतिकता की दुहाई देकर दूर नहीं किया जा सका है । किन्तु प्रभु में श्रद्धा और प्रेम के द्वारा उसे वास्तविक रूप में वदला जा सकता है । यही धार्मिक श्रद्धा का पहला प्रतिफल है , जिसमें मनुष्य प्रेम से वड़ी वस्तु का त्याग सहज ही बिना किसी कष्ट के कर देता है । इसी प्रकार भगवद्-निष्ठा और चिंतन से मानसिक विचारधारा का प्रवाह भी वदला जा सकता है । और जव मन एवं विचारों की दिशा बदल जाती हैं , तव उद्वेग स्वयं दूर हो जाते है । उनकी दुःखद अनुभूति भी मन

को विचलित नहीं कर सकती । इसे दृष्टान्त से समझाते हुए श्री कृष्ण के दर्शन एवं विरह में व्याकुल आर्त मन से ही श्री हरिरायजी ने शिक्षा पत्र का प्रारंभ किया है । जैसे देहली में ीपक रखा जाय तो बाहर और भीतर दोनों ओर प्रकाश करता है । इसी तरह श्री कृष्ण के नाम-स्मरण से मंगलाचरण करके उभयविध उद्वेग-निवृत्ति का उपाय भी बतलाते हैं ।

मानसिक उद्वेग दो प्रकार को होते है । विचार - धारा जिस मार्ग का आश्रय लेती है उसी से सत् और असत् ये दो प्रकार उद्वेग के होते हैं । उद्वेग हमेशा जीवन में बाधा देते हैं । इन्हें केवल मंगलमय आचरण से ही दूर किया जा सकता है । यह आचरण शरीर एवं मन दोनों स्तरों पर मंगलमय होना चाहिए, तभी जीवन के अमंगल क्रिया से ही नहीं अनिष्ट कल्पना से भी होता है । इसलिए अनिष्ट की आंशका दूर करने के लिए सदानन्द कृष्ण का स्मरण करके श्री हरिरायजी यह व्यक्त करते हैं कि भक्त का जीवन सदानन्द की सेवा के लिए है और वह सदानन्द श्रीकृष्ण ही स्वयं महल रूप है । श्री भट्टजी ने यह भावना व्यक्त की है कि - 'सांवरी मंगल रूप निधान, जा दिन ते हरि गोकुल प्रकट दिन होत कल्याण' उसी मंगलमय निधि श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्तों का अमंगल उनके स्मरण मात्र से ही दूर हो जाता है ।

अहंता - ममता से भरे हुए मन में उद्वेग होता है । अतःउसके निवारण का उपाय वतालाते है कि जब मन में उद्वेग हो तव उस भावना का चिन्तन करो जब प्रभु से प्रेम करने वाले भक्त उनसे बिछुड़ने पर या दूर जाने होने पर उनके दर्शनों के लिए मन में तांप करके आर्त हो जाते थे । उसी लीला का स्मरण करके अपने विचारों को भगवान् के सम्मुख करना चाहिये ।

आर्त होते हुए भी भक्त दयनीय स्थिति या हीनता का अनुभव नहीं करता , न ही वह अपने आपको असहाय समझता है । वह तो अपने परम प्रभु के सुख के लिये, उनके श्रम-निवारण के हेतु आर्त है । साधनों की आर्ति में विवशता है, स्नेह की आर्ति समर्थ है। यही लौकिक और अलौकिक आर्त का अंतर है । यहाँ आर्ति का उदाहरण यह भी सूचित करता है कि प्रभु की लीला भक्त की भावना के अनुसार विविध प्रकार की है । श्री गोपेश्वरजी इसको टीका में स्पष्ट करते है । इससे यह ज्ञात होता है क़ि दुःख के समय सुख या आनंद की कल्पना भी करना कठिन होती। तब यह तो आर्त भक्त के मन की भावना तभी संभव है जव उसके समान कुछ हमारी भी मनः स्थिति हो । अन्यथा हम उस स्थिति का अनुमान भी नहीं कर सकते , भावना करना तो दूर की बात है । इसलिये यदि लौकिक क्लेश से मन खिन्न हो तो, आर्त भक्तों के चरित्रों का मनन करना चाहिए। लोक में भी दुःखी व्यक्ति से दुःखी व्यक्ति जब बात करता है तव उनमें परस्पर सहानुभूति शीघ्र हो जाती है । किन्तु दुःखी के सामने कोई हंसता है तव वह स्थिति सभी को अखर जाती है । इस से यह भी स्पष्ट होता है कि लीला -चिंतन से मानसिक स्थिति को तभी

बदल सकते हैं जब हमारी मन की स्थिति में उससे भावनात्मक समानता हो । अतः हमें अहंता - ममतात्मक असद् आग्रहों को छोड़कर प्रभु के दर्शन के लिये आतुरता रखना उचित है किन्तु लौकिक उद्वेग करना उचित नहीं हैं । क्योंकि लौकिक उद्वेग होने और मुख पर दुःख की झलक होने के कारण मेरे प्रभु को कष्ट होगा यह भावना हमारे मन में आश्वासन एवं सुख देते है । जैसे प्रभु के सामने उदासीन मुख लेकर नहीं जाना चाहिये वैसे लोक में भी मुँह उदास और गंभीर बनाकर दुखड़ा रोने से कोई दुःख दूर नहीं कर देता । दुःख तो भगवदाश्रय से स्वयं दूर हो जाते है ।

जैसे माता अपने बालक को भय से बचाती है,चाहे वह स्वयं शोक में ही क्यों न हो, किन्तु बच्चे को दुःख का आभास भी नहीं होने देती; उसी प्रकार प्रभु के समक्ष प्रसन्नता और उत्साह से ही दर्शन करने जाना चाहिये । बहुत से लोगों की आदत होती है कि वे अपने दुःख प्रत्येक व्यक्ति के सामने रोते है । इसी स्थिति में कुछ देर के लिए कोई सहानुभूति भले ही प्रकट कर दे किन्तु वह दुःख दूर कर देगा, यह अपेक्षा करना उचित नहीं है । ऐसे समय दृढ़ता से भगवद् आश्रय करके प्रभु चिंतन से मनोवृत्ति बदलना चाहिये।और प्रभु सेवा में प्रतिबंध या प्रमाद आलस्य न हो इसका भगवदीय को ध्यान रखना चाहिये । यह भगवदीय जीवन के लिए आवश्यक है । प्रभु के आश्रय से ही प्रयत्नों में सफलता मिलती है और दुःख भी दूर होते है, ऐसा मन में निश्चय करना चाहिये। अपने प्रयत्नों से ही मैं लौकिक -वैदिक -व्यवहार में सफल होता हूँ । यह विचार-सरणि अभिमान पैदा करती है । इससे भगवद् भाव एवं व्यवहार दोनों में बाधा आती है । प्रभु -सेवा में प्रतिबंध दूर करने के विचार से प्रभु की सेवा के माध्यम से व्यवहार समझने से भगवद् -भावना बढ़ती है और भक्त का दृष्टिकोण भी दोषमुक्त होता है। इसके विपरीत प्रपंच के द्वारा व्यवहार समझने से देह के अध्याय बढ़ते है और प्रपंच में आसक्ति से बुद्धि एवं दृष्टि दूषित होती है ।

मन का वेग पवन से भी अधिक है । मन बहुत चंचल है । उसे रोकना सरल नहीं है । श्रीमद्भगवद्गीता में भक्त अर्जुन भी भगवान् से यही शिकायत करते है । किन्तु प्रभु की लीला चिंतन से भक्त के मन का निरोध सहज ही हो जाता है । भक्त के मन की चंचलता दूर करके उसका मन अपने में लगाने के लिए ही भगवान में अनेक विध लीलाएँ की है । श्री गोपेश्वरजी सेवा के अनवपुर में उन्हीं के चिंतन का निर्देश करते हैं ।

जैसे लौकिक कार्यो में प्रमाद नहीं करते उसी तरह भगवान् की सेवा और स्वधर्म पालन में भी प्रमाद करना उचित नहीं हैं । मलिन मन और मलिन तन प्रभु -सेवा के योग्य नहीं रहते । भगवदीय को यह आग्रह रखना चाहिये कि जितनी भी बन पड़े अपने शरीर से स्वधर्म एवं प्रभु की सेवा करे । यदि किसी कारण से न कर सके तो किसी जानकार वैष्णव भक्त के द्वारा कराने का उपदेश श्री गोपेश्वरजी देते हैं । लेकिन जिसकी निष्ठा एवं जानकारी जिस विषय में नहीं हो , उससे वह कार्य कराना ठीक नहीं हैं । जैसे अज्ञानी

से अभिमानी से ज्ञान लेना हानिकारक है, वैसे ही यदि कोई शल्यक्रिया (सर्जरी) नहीं जानता हो ऐसे वैद्य या सर्जन से शरीर की चीरफाड़ (आपरेशन) करवाने से जीवन रक्षा के स्थान पर मौत की ही अधिक संभावना है । उसी तरह निष्ठाहीन गैर जानकारी से सेवा कराने से भी बाधा आ सकती है । साथ जो क्रिया हमारे द्वारा नहीं होती और जिसे शुद्ध भावना से नहीं किया जाता उसका प्रभाव हमारे जीवन पर नहीं होती और भावना दृष्ट होने पर तो उल्टी ही प्रतिक्रिया होती है । इसलिये मन पर नियंत्रण कर विचारों को बदलने की विधि बतलाई गयी है ।

मन एवं वाणी का परस्पर गहरा संबंध है । मानसिक विचारों की अभिव्यक्ति वाणी पर व्यवहार भी अधिक अविलंबित है । अधिक एवं व्यर्थ बोलने से शक्ति नष्ट होती है बुद्धि एवं वाणी की चतुरता और चालाकी का अंतर हमें भगवदीय वाणी से ज्ञात होता है। चतुर वाणी में आत्मविश्वास और सद्‌भाव होता है । चालाक वाणी मधुर होते हुए भी शंका पैदा करती है । भगवद्-गुणगान से ही वाणी पवित्र और नियंत्रित होती है । जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना , अनुचित शब्दों का प्रयोग न करना और दूसरे द्वारा कहे गये अनुचित शब्दों से विचलित न होना -यह सेवापरायण भगवदीय जीवन का आवश्यक अंग है ।

शास्त्रों में कहा गया है कि पहले वाणी को रोको । वाणी के निरोध से ही मन के निरोध से ही मनुष्य का सभी इद्रियों पर नियंत्रण रहेगा । फिर आत्मा को परमात्मा प्रभु में रोको, लगाये रखो, निरूद्ध करो यही मुक्ति का साधन है । लोक जीवन में यदि दुर्गुणों से समाज,घर,परिवार और अपने आप को मुक्त रखना हो तो भक्त जीवनं की ऊपर बताई गई प्रणाली, जो कि सहज निष्कपट और भावना प्रधान है , इसी से हमारा जीवन और समाज सुधर सकता है इसलिए मन को रोकने में वाणी का निरोध बतलाकर आवश्यक बोलने की अनुमति दी है जिससे सेवा धर्म में बाधा न हो और वृथा आलाप से मन में उद्वेग न हो । इसी ढंग से हमारी क्रियाओं पर हमारा नियंत्रण होगा ।

मनुष्य की ज्ञान शक्ति का नियंत्रण बतलाकर क्रिया शक्ति पर व्यवहार में नियंत्रण का प्रकार श्री हरिरायजी बतलाते है । मनुष्य का व्यवहार दो प्रकार का है - लौकिक और वैदिक । लौकिक व्यवहार के द्वारा ही वैदिक व्यवहार का ज्ञान होता है , यह श्री वल्लभाचार्य जी 'पत्रावलंबन' ग्रंथ में स्पष्ट करते है । जव तक लौकिक और वैदिक व्यवहार नहीं सुधरता और उसमें भगवदीय नहीं आती तव तक भगवदीय जीवन नहीं वन सकता । और जब तक जीवन में स्वधर्म के अनुसार भगवदीय नहीं आती तव सुख शांति एवं प्रभु के आनंद का अनुभव नहीं होता । धर्म में निष्कपट व्यवहार ही शांति और विश्वास का सृजन करता है । उसी से शांति एवं सुख मिलते हैं । जव उद्वेगों से जीवन और विचार विचलित नहीं होंगे तथा वास्तविक उन्नति होगी । इसलिए धर्म से कपट करके मनुष्य अपने आपको ही धोखा देता है । जिस धोखे की भावना से दूसरे को हानि होती है ,उसका

निरंतर चिंतन करने से हमें भी हानि पहुंचती है । जब कोई यह सोचता है कि मैंने दूसरे को धोखा देकर मूर्ख बनाया तो वह दूसरे की अपेक्षा ही हानि अधिक करता है । वह स्वयं को ही मूर्ख बनाता है । यही कारण है स्वयं में परिवार में समाज में विकृति का एवं विनाश का क्यों कि इससे अविश्वास का वातावरण बढ़ता है । अशांति एवं उद्वेग होते है , और दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाने की हीन वृत्ति से अपराधी जीवन एवं भावना बनती है शक्ति का अनुचित उपयोग होता है और साधन दूषित होते हैं । दूषित साधन से कभी भी निर्दुष्ट जीवन और विचार नहीं बन सकते है । इससे व्यक्ति और समाज का पतन ही होता है इसलिये भगवदीय जीवन द्वारा व्यक्ति के विचारों एवं आचार की कमजोरी दूर करके उसे भगवत्सेवा के योग्य एवं सक्षम बनाया जा सकता है । भक्त कभी किसी की कमजोरी से लाभ नहीं लेता किन्तु वह कमजोरी दूर कर उसके विचार और क्रिया को दृढ़ बनाता है ।

जब केवल वाणी का दुरूपयोग भी मनुष्य जीवन में कभी विकट परिस्थिति खड़ी कर सकता , तब व्यवहार का अनुचित उपयोग बुराई नहीं कर सकता ? इसलिये लौकिक एवं वैदिक व्यवहार को शुद्ध बनाने के लिए यह आवश्यक है कि, उसे आसक्तिरहित निष्कपट भाव से भगवदीय दृष्टि से किया जाय । यही भगवदीय कार्य की विशेषता है । जबकि अन्य व्यक्ति यह सोचता है कि मुझे क्या लाभ होगा ?वह भावना से व्यवहार करता है । लेकिन भगवदीय सोचेगा कि मेरे व्यवहार से कहीं भगवत्सेवा और प्रभु के कार्य में बाधा न हो । स्वार्थ एवं आसक्त बुद्धि से व्यवहार करने से अधिक हानि की संभावना है। भगवदीय व्यक्ति विवेक द्वारा तटस्थ दृष्टि से सेवोपयोगी रूप में व्यावहारिक विचार करेगा । यही निष्काम और तटस्थ विचार की परम्परा है ।

अनेक व्यक्ति यह कहते है कि हम तटस्थ विचारक हैं । किन्तु यह आत्मा प्रवंचना मात्र है । क्योंकि समय,वातावरण, परिस्थिति और स्वयं के भावों का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य ही पड़ता है । विवेक भी इससे प्रभावित होता है । इसलिये लौकिक एवं वैदिक कार्य को अनास्था से भगवदीय दृष्टि से करना चाहिये किन्तु उससे फल की आशा नहीं करना चाहिये । यदि हम पुत्र को इस आशा से बड़ा करें कि वह बुढ़ापे में हमारा सहारा बनेगा और हमारी पत्नी हमें सुख देगी तो ऐसी आशा पूरी न होने पर हमारे मन में उद्वेग होगा । और उद्वेग वाले मन से किया गया व्यवहार टकराहट पैदा करता है । जैसे चकमक पत्थरों के टकराने से आग निकलती है, वैसे ही व्यवहारिक जीवन में भी असंतोष, अशांति और अनाचार की आग भड़क जाती है । परिवारों की शांति भंग होती है । इससे भगवत्सेवा में विपक्ष होता है, चिंतन एवं संबंध भी बिगड़ते हैं । इसीलिये भगवदीय भक्त भगवान की सेवा छोड़कर लौकिक कार्यों को प्राथमिकता नहीं देता । जैसे व्यवहार में अधूरा काम छोड़कर दूसरा काम करें फिर तीसरा करें तो इससे कार्य बिगड़ते हैं । उसी प्रकार सेवा छोड़कर लौकिक कार्य करने पर स्वार्थ बुद्धि से लौकिक कार्य भी बिगड़ते हैं।

साधारण लोभ के वश में और व्यसन में पड़कर मनुष्य बड़ी से बड़ी हानि कर लेता है, चाहे उसमें लौकिक बुद्धि कितनी प्रबल हो । लोभ में, स्वार्थ में चतुरता नहीं चालाकी से काम लेते हैं । यही कारण है आर्थिक एवं राजनीतिक व्यावहारिक विफलता का । इस प्रकार लौकिक वैदिक कार्य केवल कर्तव्य बुद्धि से करने पर उचित रूप से होते हैं । और जीवन पराधीन नहीं होता । क्योंकि भक्त, भगवदीय जन भगवान् के ही आधीन होते है, वे परिस्थिति के आधीन नहीं होते, वे अपने अनासक्ति योग से प्रत्येक प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल देते हैं ।

इस प्रकार जब मन, वाणी एवं कार्य भगवदीय बन जाते हैं तब भगवदीय भावना का निर्माण होता है । भावना का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य के आचरण और विचारों पर बहुत ही गहरा होता है । इसी प्रकार इनका परस्पर संबंध भी उतना ही गंभीर है । इसलिये भावना कैसी होना चाहिये इस विषय मैं भक्तिमार्गीय निर्णय है कि भावना उच्च हो । श्री गोकुलनाथजी से किसी ने पूछा कि मैं अपनी भावना कैसी बनाऊं ? तब उनका दृढ़ मत था कि भावना हमेशा ऊँची रखो । दृष्टभाव और हीन भाव न केवल प्रभु-स्मरण में बाधक है अपितु इससे जीवन में भी बाधा आती है । इसी कारण भाव दुष्ट,वर्ण दुष्ट ,नाम दुष्ट वस्तु भगवान् की सेवा के योग्य नहीं मानी जाती । क्रिया दुष्ट होने पर जीवन भी भगवान की सेवा के योग्य कैसे रह सकता है ?

भावना को विकृत होने से बचाने और उसे उच्च वनाने के लिये भाव समाधि के प्रकार निरूपण करते हैं । इसी भाव समाधि और चिंतन से आत्मा का परमात्मा में निरोध होता है । भगवदीय जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे भावना दूषित वने । साथ ही यह विचार रखना चाहिये कि भक्त जीवन में लोक-अपकीर्ति न हो; जिससे मन में क्षोभ और हीन भावना बने । इसलिये लौकिक,वैदिक कार्य भी लोक निंदा की निवृत्ति और सदाचार की रक्षा के लिये करने चाहिये । अपनी कीर्ति के लिए या अभिमान से नहीं । उनमें भी भगवद् संबंध का विचार करके ही उन्हें संपन्न करना चाहिये । इस विषय का स्पष्टीकरण 'गीता तात्पर्य' में श्री विट्ठलेश प्रभुचरण वड़े तार्किक रूप से करते है । भगवदीय जीवन में भावना का महत्व सभी दृष्टियों से समझाया गया है । यही पुष्टिमार्गीय भावना साहित्य की विशेषता है । यहां तो जड़ पदार्थ में भी भगवद्बुद्धि और चेतना का विचार किया गया है तव जीवन की जड़ता इस भावना से दूर क्यों नहीं होगी? भावना की यह विशेषता है कि उत्तम वस्तु को देख कर भक्त के हृदय में यही विचार आयेगा कि यह मेरे प्रभु के योग्य है । उस वस्तु पर उसका मन भी आसक्त नहीं होगा। यह तथ्य वार्ता साहित्य में स्पष्ट समझाया गया है । इतना ही नहीं सेवा योग्य वस्तु की कीमत का विचार भी वह व्यापारी दृष्टि से कभी नहीं करेगा । केवल सेवा में उपयोगी की दृष्टि भगवान् से सुख की दृष्टि से ही उस पर विचार करेगा । लौकिक जीवन में मनुष्य अपने सुख के लिये विचार करते हैं लेकिन उसका प्रतिकूल परिणाम होता हैं। किन्तु यहाँ

परिणाम के विरूद्ध होने की आशंका भी नहीं होती । इस प्रकार भावना के भेद से फल में भी भेद हो जाता है । जैसे माता के स्तनों का स्पर्श वालक करता है तव उसमें से दूध निकलता है । यहां भावना का प्रभाव माता के रक्त का भी रंग वदल देता है । स्पष्ट है कि भावना द्वारा जीवन के परिवर्तन में शंका को स्थान ही नहीं हैं । इसलिए पुष्टि मार्ग में प्रभु की सेवा भावनात्मक है और उसकी आत्मा तो सदानंदश्रीकृष्ण ही है । इससे यहाँ पतन की संभावना भी नहीं है । भक्त हृदय के विविध भावों का प्रेरणा स्रोत वासना नहीं, भगवदीय भावना और प्रभु के सुख का विचार है । उस शाश्वत दिव्य सत्ता से संवंधित होकर ही जीवन, जगत् और वस्तु के दोष दूर हो सकते हैं, किन्तु वासना और स्वार्थ की जड़ बुद्धि से तो वैज्ञानिक ने चेतना प्रधान जीवन और विचारों को भी जड़ता प्रदान की है । विज्ञान चेतना में भी जड़ की खोज करता है किन्तु भगवदीय जीवन भावनात्मक दृष्टि से जड़ में भी शाश्वत चेतना के भावनात्मक जगत् की यह विशेषता है कि उसके मन की चंचलता में भी उद्वेग न होकर आनंद का ही अनुभव होगा । इसका स्पष्टीकरण करने के लिए श्री गोपेश्वरजी हिंडोला का दृष्टान्त देकर समझाते है कि जैसे झूला झूलने में वालक को आनंद आता है और झुलाने वाले झूले की चंचलता पर ध्यान न देकर झूलने वालों पर अपना ध्यान अधिक रखते हैं उसी प्रकार भक्त के हृदय में झूला -झूलने वाले प्रभु पर ही उसका ध्यान केंद्रित होता है , मन की चंचल वृत्ति पर नहीं । वहुत से लोग मन की चंचलता रोकने के लिये ही चंचल और उद्विग्न रहते है । किन्तु यशोदा अपने नन्हें नंदलाल को झुलाते समय पलने का नहीं ,परन्तु श्याम सुंदर का ध्यान रखती है । इससे समझा जा सकता है कि चंचलता से भक्त जीवन विचलित नहीं होता । चाहे वर्तमान प्रगतिवादी जीवन कितनी ही शीघ्रगामी भागमभाग का क्यों न हो ? उँच-नीच की विषम स्थिति में भी भगवदीय तो अपने घनश्याम को सदा आनंदित अनुभव करता है । यही है उसके दिव्य आनंद का रसमय स्रोत , जिसमें उँच नीच भी विषमता की द्योतक नहीं हैं । किन्तु आनंद की उठती हुई तरंगे हैं । इस प्रकार भगवदीय जीवन भावनात्मक रूप में व्यापक हैं ।

हम सेवा के माध्यम से व्यवहार -ज्ञान प्राप्त करें । इससे व्यवहार भगवदीय दोषरहित वनेगा और यदि व्यवहार के द्वारा सेवा या स्वधर्म का ज्ञान जड़वादी रूप में करेंगें तो अशान्ति और अनाचार ही बढ़ने की संभावना है । इस प्रकार भावनात्मकता भगवदीय जीवन के निर्माण का अनिवार्य अंग है । इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने वाले तार्किक समाज ने तो आचार की व्यापकता हमें दी है उसके विचार दूषित हुए हैं और दुराचार को अधिक वल मिला है ।

उसे रोकने का भी महत्वपूर्ण साधन भगवदीय जीवन की भक्ति -भीनी भावना ही है । इसलिए हमारी भावना का निर्माण भगवदीय भावना की भाव समाधि द्वारा होना चाहिये । यही भगवदीय जीवन का अभीष्ट है । यही उसकी मौलिकता है , जिससे वह

प्रत्येक बुरी वस्तु के दोष दूर करके उसे भगवदीय दृष्टि से देखकर स्वयं अपने आचार एवं विचारों को निर्दुष्ट रख कर प्रभु के लिए ही सेवा-परायण जीवन आता है, किन्तु उससे भी कभी कोई याचना नहीं करता । वह तो उनको भी सुख -समर्पण की भावना का विचार कर जीवन केवल उन्हीं के लिए जाता है । उसका आनंद भी अपने आराध्य को आनंद देने के लिए है । उस प्रकार भावना के महत्वपूर्ण विचार से हमें भी अपना जीवन सेवा के योग्य बनाना चाहिये । यही भगवदीय जीवन का व्यवहार पक्ष है ।

हमारे ऊपर तो महाप्रभुजी हैं

हमें अपने ही समाज में प्रचारक तैयार करने पड़ेंगे. वैष्णवों की श्रद्धायुक्त वाणी का जो प्रभाव पड़ेगा वह बिकी हुई वाणी का जरा भी नहीं पड़ सकता. प्रभु का स्मरण करते और श्रीमदाचार्य का आश्रय लेकर कार्य करेंगे तो परिषद् को सफलता मिलेगी ही; इसका मुझे पूरा पूरा विश्वास है. हमारा यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है. सर्वसमर्थ प्रभु की छत्र-छाया में दासत्व की भावना से काम करें और निश्चिंत हो जाये, फिर कोई कार्य अशक्य नहीं. अपने ऊपर महाप्रभुजी हैं इसलिए कोई चिन्ता करने या डरने की जरूरत नहीं.

— प्रथमेश

सहज धर्म का पालन करो

साधना का स्वार्थ सिद्धान्त (सिद्ध जिसका अन्त न हो) की वास्तविकता को खो देता है । साधना निरउमक्त धर्म 'वल्लभचार्य का उद्देश्य कहा है; आत्म धर्म की सृष्टि श्री वल्लभ ने की है । प्रभु की आत्मसृष्टि में न तो विषयता है और न ही घृणा है । हमारा निराकार है, हमारी अनुभूति साकार है । शब्द की शक्ति होती है । क्रोध, प्रेम और घृणा में जो शब्द व्यक्त होता है । वह हृदगत भाव का प्रभाव डालता है । सेवा का अर्थ पूजा नहीं; सेवन है । पुष्टिमार्ग में क्रिया का बोध वैष्णवों को होता है किन्तु करते हैं दूसरे के लिये । दान और समर्पण में अन्तर है, आचार्य वल्लभ का पुष्टिमार्ग जाति, देश और काल की सीमा में आबद्ध नहीं है । साधन सम्पन्न मानव धनिक, कर्मठ, वैज्ञानिक और व्यवसायी तो हो सकता है । अकिंचन धर्म को ही वल्लभ ने महत्व दिया है।

राज्याश्रयी धर्म जीवन का निर्माण नहीं कर सकता है । जीवन और जगत की समस्याओं से जूझने के पूर्व अपने को आग्रही नहीं वनना है । भगवान की लीला का धाम अहंचा ममता से रहित है । वल्लभ दैहिक सम्बन्ध नहीं चाहते है ; भगवदीय सम्वन्ध चाहते हैं । 'दीनता' हीनता से भरी नहीं होना चाहिये । वल्लभ ने धर्म की टकराहट स्वीकार नहीं की ; धर्म टकराहट निकालने के लिये और हृदयों को जोड़ने के लिये होता है । वल्लभ का आश्रय ब्रह्म तो है किन्तु पुरुषोत्तम है । मुक्ति का कारण पलायन के लिये नहीं अपितु भक्ति के लिये है । समुद्र मंथन की भाँति हमारे विचारों में भी मंथन (घर्षण) होता है इसमें अमृत निकले, विष न निकले तभी सार्थकता है । इसलिये वेद कहता है - धर्म चर, भगवान श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होते हुए भी गंवार ग्वाल बालों में रहे । भक्तिमार्ग मर्यादित नहीं निस्सीम है । आज हमने अपने जीवन से धर्म को हटा दिया है तीन करोड़ वैष्णव जीवन की वास्तविक तथ्य को समझने का प्रयास नहीं कर रहे हैं ।

मैं आप से कहने आया हूँ सहजधर्म का पालन करो । सम्मोहन, प्रलोभन या भय से धर्म का पालन कल्याण कर नहीं होता । हमारी क्रिया और भावना में एकता होना चाहिये । महत्वाकांक्षा नियंत्रित होगी तभी मानवीय आदर्श व्यवस्थित रह पायेंगे । अनियंत्रित महत्वाकांक्षा निश्चय ही दानवीय रुप में परिणत हो जाती है । आज की महत्वाकांक्षा भौतिक महत्वाकांक्षा से वहुत बड़ी है भक्त सर्व शक्तियों को प्राप्त कर रावण नहीं वनना चाहता, वह तो केवल हरि का दास वना रहना चाहता है । साधनों के आधार पर उच्चता या लघुता का मानदंड नहीं वनाया जाता । आज हमारे कर्मठ कार्यकर्ता क्रिया शून्य हो गये है, हमारे अपने दुराचार हमें खाये जा रहे हैं समाज को यदि उत्थान की अभिलाषा है तो श्रीवल्लभाचार्य की इस आज्ञा का पालन करे - -- - -'स्वधर्मतरणंशतया विधर्म निवर्तनम् । इन्द्रियाश्व विनिग्राह सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् ।।

(श्री मदनमोहन जी की हवेली, उज्जैन में १२ - २ -७५ को 'वल्लभ सत्संग समाज की स्थापना पर दिये गये प्रवचन का अंश - प्रस्तुति श्री हरिनारायण नीमा)

व्यास पूर्णिमा

व्यास पूर्णिमा के दिन वेदव्यास जी ने धर्म की व्यवस्था दी थी । धार्मिक पर्वों में धर्म का चिन्तन कर पर्व माने जाने चाहिये । वेद को हम स्वीकार करें या न करें, पर इसके आधार पर नास्तिक शब्द तो न कहें । श्री वल्लभाचार्यजी ने ब्रह्मवाद में व्यासजी को प्रमाण माना है ।

समित्पाणि हो कर गुरु के समक्ष जाएँ । समित्पाणि का अर्थ है विद्या का उपदेश जिसमें ठहरे । वह होगा विनीत होने पर । विनीत भी ऐसे हों जैसे वनस्पति है । इस तरह गुरु के समक्ष जाएँगे तो विद्या का दान मिलेगा । गुरु वह है जो अँधकार दूर करता है । ऐसा सक्षम गुरु ही जीव को खींच सकता है ।

श्री महाप्रभुजी समर्थ गुरु हैं। उन्होंने शुद्धाद्वैत ज्ञान देकर प्रेम लक्षणा भक्ति का उपदेश दिया है । भक्ति के लिये अन्तःकरण की शुद्धि होनी चाहिए, पर जीव कर्म ऐसे करता है जिससे अंतःकरण की शुद्धि न हो सके । इसलिए श्रीमहाप्रभुजी ने जीव के साधनों पर विचार न कर के निःसाधन भक्ति मार्ग प्रकट किया है । साधन भक्ति साध्य है । गुरुभक्ति एकलव्य में थी । वह जंगली या असभ्य नहीं था । वह जानता था कि गुरु कृपा बिना विद्या प्राप्त नहीं होगी । उसने गुरु को समझा । उसने गुरु की मूर्ति में साक्षात् की भावना रखी (साक्षात् की भावना पुष्टिमार्गीय है) । "यस्य देवे परा भक्ति, र्यथा देवे तथा गुरौ" । भगवद्भाव, भदवद् प्रभु भगवत शास्त्र यह तीनों चीजें उसे देनी चाहिये, जिनमें योग्यता हो । शास्त्रों में संगति बैठाकर अर्थ समझना चाहिये और जीवन में भी संगति बैठानी चाहिये । आचार्यश्री की आज्ञा हैं कि जीवन में संगति समव्यवहार से होगी । इस व्यवहार का दर्शन श्री महाप्रभुजी श्री यमुना जी की स्तुति में करवाते हैं। श्री यमुनाजी को 'सुरासुरसुपूजित' कहकर । सुर और असुर भाव वालों से श्री यमुना जी पूजित हैं । असुर भाव वाले जिनमें मान वाले आत्मकेन्द्रित व्यक्ति तथा सुरभाव वाले जिनमें मान नहीं अभिमान नहीं, दैन्य भाव वाले है । श्री यमुनाजी ने भेदभाव नहीं रखा। सुर और असुर दोनों पर कृपा की और दोनों ने उनकी पूजा की ।

वनस्पति के विना जीवन ही सम्भव नहीं, यह वात विज्ञान भी कहता है । इस वात का उसे भान नहीं है । सबके साथ उसका समव्यवहार है विना भेद भाव के । उससे भी समव्यवहार सीखा जा सकता है चाहे वह जड़ मानी जाती है । श्री महाप्रभुजी ने स्वयं ब्रह्म संवंध विना भेद भाव के तथा किसी के भी गुण-दोषों पर विचार किए बिना वृष्टि से दिया है ।

सवसे पहली वात तो यह है कि गुरू और आचार्य पर विश्वास रखें । एकलव्य ने गुरू मान कर उसकी मूर्ति पर विश्वास करके सभी विद्याएँ उपलब्ध कर लीं, पर दूसरों

ने गुरूद्रोण की बात पर भी विश्वास नहीं किया । जब उन्होंने कहा था कि मैंने एकलव्य को विद्या नहीं दी । कौरव और पाण्डव सम्पन्न थे तो भी वे एकलव्य जैसी गुरू दक्षिणा नहीं दे सकते थे । सम्पन्न व्यक्ति की भक्ति पूर्ण भक्ति नहीं हो पाती । साधनाभिमान बाधा करता है । भक्ति के लिए अभिमान रहित दैन्य की आवश्यकता है ।

भक्ति के लिए, सेवा संबंध के लिये जीवन को नियमित करे । इस तरह नियम लेना दुराग्रह नहीं है और न ही साधनाभिमान । यह नियम विवेक जाग्रत करता है और संयम देता है । साधन रूप से नहीं पर आत्मान्वेषण के लिये दोषों पर विचार करें । यहाँ दोषों पर विचार करना कहा है । दोषों का चिंतन नहीं करना है ।

जीवन में बात बात में अपनी सामर्थ्य पर हमें अभिमान होता है पर कर्म की अथवा सेवा की बात पर हम असमर्थ हो जाते हैं । सेवाधर्म की दायित्व पूर्ण बात याद रखनी है । आचार द्वारा उन्नति करके, विचार द्वारा प्रेरित होकर जीवन का निर्माण करें - यह उपदेश अथवा आदेश आचार्य-चरणों ने दिया ।

आचार्य श्री प्रथमेशजी के प्रवचन के आधार पर

प्रस्तुति -- कमला माहेश्वरी, कलकत्ता.

श्री महाप्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि जीवन और शक्ति दें कि मैं सम्प्रदाय को स्थिर करके परिषद् को शक्तिशाली सेवक के रूप में निवेदित कर जाऊँ.

—प्रथमेश

धन तेरस

आज के दिन धन्वन्तरि प्रभु का अवतार हुआ । समुद्र में से जो रत्न निकले उनमें से एक यह भी थे । अमृत का घट लेकर धन्वन्तरि प्रभु पधारे ।

इस प्रसंग का तात्पर्य यह है कि धन हो अथवा साधन, वे शुद्ध होने पर ही सेवोपयोगी होंगे । धन अथवा साधन जो भी प्राप्त हों वे उपयोगी होने पर भी जब तक शुद्ध नहीं होते न को सत्य निर्मय नहीं करे देते । उपयोगी वस्तु 'रत्न' प्राप्त हुए । उन प्राप्त रत्नों के लिए दैवी और आसुरी भावनाएँ अलग-अलग हुई । जब अमृत बँटा तो वह देवों के साथ दैत्यों के हाथ भी लगा । दैत्यों के हाथ अमृत आने पर वे सूर्य और चन्द्र के दुःख का कारण बने । असुरों के भाव का संबंध होने पर अमृत भी उत्तम फल न दे सका ।

पुष्टिमार्ग में शुद्धि का अर्थ सद्-असद् विवेचन नहीं है । हमको अपने साधन सेवोपयोगी बनाना है । सेवोपयोगी साधन लौकिक साधन अथवा वैदिक साधन नहीं है, ये आधिदैविक साधन है । यहाँ पर 'अपनो धन धोवन नंदरानी' कुम्भन दास जी बता रहे हैं कि ब्रज भक्तों के सर्वस्व धन श्री ठाकुर जी ही है । उन्हीं के लिये सम्पूर्ण वस्तुओं का परक्षालन करते हैं ब्रज भक्त ।

वेदों में स्वर्म आदि धन शुद्ध माना गया है । यज्ञ रूप प्रभु की उपासना के लिए अथमेव साधन और ऐश्वर्य की पूजा की गई है वेदों में ।

लोक व्यवहार में ऐसा था कि धन प्रक्षालन में धन को जन से, फिर दूध से धो कर, फिर जन से और भावना के द्वारा धोया जाता है । दूध में सब से बड़ी शक्ति है विष को कम करने की । स्पष्ट बात यह है कि विषयों का विष जिस धन से दूर हो गया वैसा धन का प्रक्षालन ब्रज भक्तों द्वारा हुआ । जैसे माता का संपूर्ण नंदनंदन के लिये था । वह इस लिये प्रक्षालन कर रही है कि तुम मेरे श्याम के उपयोगी बनो ।

सेवोपयोगी धन समर्पित जीवन के द्वारा होता है । समर्पण में स्नेह से प्रक्षालन होता है । अर्पण में विधि प्रधान होती है । अर्पण की हुई वस्तु पर सेवक का वह अधिकार नहीं होता जैसा प्रसाद पर भक्त का अधिकार होता है । जिस प्रकार श्रीनाथ जी के नरो से माँग कर दूध आरोगने पर आचार्य श्री ने प्रसादी दूध को माँग लिया । समर्पित वस्तु प्रसाद के रूप में भक्त लेते हैं ।

यह रास के प्रकरण के बाद की लीला है । रात में भक्तों ने अपने भाव को भक्ति द्वारा भगवान को समर्पित किया और भगवदानंद का अनुभव किया । यह भाव भक्ति केवल भक्त से पैदा नहीं हुई । भगवान से अनुराग भक्त को हुआ, अनुराग भगवान में समर्पित हुआ तब उन्होंने (प्रभु ने) आनन्द को प्रकट किया ।

भक्तों का ज्ञान भगवान् में अधिष्ठित है । मुक्ति स्वरूपा श्रुतियाँ भी प्रेम लक्षणा भक्ति की अर्चना करती है । वे भक्ति से कहती है कि जब तू नंद नंदन से प्रसाद में प्राप्त हुई है तब और शुद्ध क्या करेंगे इस लिये हम तेरी अर्चना करते है । प्रभु ने नवरस से सब को भुषित किआय इसलिये इनमें अलौकिकत्व आया और आधिदैविकता आई ।

समर्पित द्रव्य जो भक्तों को मिलता है उसी से उनका जीवन निर्वाह है । तेरी माया को विजय करने का समर्पित द्रव्य के बिना उपाय नहीं है । पुष्टिभक्ति में वैदिक दान नहीं है रसात्मक दान है वह इसलिये कि अन्य वृद्धि न रहे । वैष्णव के धन तो श्रीहरि ही हैं। आचार्य श्री ने जो सेवा प्रणाली दी है वह ब्रजभक्तों की प्रणाली है । गोलोक की बात पहले ॠग्वेद में आई । वस्तुतः लक्ष्मी भक्तों से उत्पन्न हुई उनकी क्रांति शोभा और स्नेह रूपा ।

(पू.पा. प्रथमेशजी के वचनामृत से : प्रस्तुति कमला माहेश्वरी).

आज की स्थिति को नहीं समझा तो भविष्य अंधकारमय

आज की परिस्थिति श्रीमदाचार्य के समय से भी खराब है. उस समय धार्मिक जागृति और धर्म प्रेम था किन्तु आज उससे विपरीत स्थिति है. यदि आज आचार्य बालक या वैष्णव समाज़ ने स्थिति का नहीं समझा तो भविष्य अंधकारमय होगा.

—प्रथमेश

मेरी एकमात्र इच्छा

आज चारों दिशाओं से सम्प्रदाय भयाक्रांत हो रहा है. मेरी देह छूट जाने पर भी परिषद् चलती रहे और श्रीमद्वल्लभाचार्य का नाम जगमगाता रहे, यही मेरी इच्छा है.

—प्रथमेश

संसर्प मास के संदर्भ में

संसर्प का अर्थ है ' दौड़ना' । आधिदैविक रूप में इसका अर्थ है जीव का प्रभु के पीछे और प्रभु का जीव के पीछे 'दौड़ना', उसको प्राप्त करने की चेष्टा करना । यह संसर्प मास १०० और २५ वर्ष पीछे आता है; पुरुषोत्तम मास की तरह अधिक मास है, पर पुरुषोत्तम मास माना नहीं जाता है । चन्द्रमा का वर्ष ३५३ दिन का होने से यह मास बनता है ।

इस बार संसर्प मास दान और सांझी के बीच समय में आया है । दान ले कर प्रभु जीव का अपने में निरोध सिद्ध करते हैं । दान वस्तुतः प्रभु ही करते हैं और जीव करता है समर्पण । दान और समर्पण की दौड़ भाग की चेष्टाएं संसर्प मास की भावना है । दान लेना राजा का कार्य है । ब्रज में दान - लीला राज लीला है ।

'ब्रज वृन्दावन, गिरि नदी यह सब मेरो अंग ' कह कर प्रभु ने ब्रज भक्तों को सर्वात्म भाव का उद्‌बोध कराया है । किसी भी राजा का राज्य किसी देश और सीमा तक होता है । पर प्रभु का राज्य, वे तो सर्वेश्वर और सर्व अंतर्यामी हैं तो सर्वत्र सर्व काल सभी स्थितियों में तथा सब पर है ; वह चाहे जिस समय किसी से भी ले ले किसी को भी दे दें; अपने भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने के लिए प्रभु उनसे माँग कर दान लेते हैं और उनका अपने में निरोध सिद्ध करते हैं ।

ब्रज में साझी मांडते हुए अन्तिम दिन द्वारिका जी का चित्रण श्री स्वामिनि जी से हो गया क्योंकि प्रभु द्वारिका लीला करने वाले थे । प्रभु के जन उनके हृदय की बात को जानने वाले होते हैं, आगे द्वारिका लीला होने वाली थी यह बात ब्रज भक्त जान गए । द्वारिका में होने वाली राजलीला से ब्रजभक्तों के मन में न तो कोई ईर्ष्या हुई और न ही क्षोभ । उन्होंने प्रभु की इस लीला को सहर्ष खेल समझ कर, लीला समझ कर स्वीकार किया, 'निर्मत्सर जो संत तिनकी चूड़ामणि गोपी' कहते हैं, यही कारण है प्रभु उनके पीछे भागते हैं, उनको प्राप्त करने के लिये लालायित रहते हैं ।

उधर द्वारिका में प्रभु ने ब्रजभक्तों के स्नेह की बड़ाई की , तो वह सहन नहीं कर सके, ईर्ष्या द्वेष की अग्नि में जलने लगे । प्रभु के उमड़े हुए स्वरूपानन्द को झेलने की क्षमता इन में नहीं थी; पात्र तो ब्रज भक्त ही थे । उसी क्षण वहाँ पर चन्द्रसरोवर के रूप में गोपीतलैया उपस्थित हुई और उपस्थित हो गए ब्रजभक्त । वहाँ महारास हुआ और स्वरूपानन्द का दान ब्रजभक्तों को हुआ । यहाँ पर नहीं आ पाने वाले ब्रजभक्त लोक भावना वाले थे ।

साँझी अपने यहाँ दो प्रकार के मांडी जाती है । एक रंग से और दूसरी फूलों से। रंग से चित्रण ब्रज के विभिन्न लीला- स्थलों का किया जाता है तथा फूली से चित्रण स्वामिनी जी के नाना भावों का । श्री गुसांई जी दान के समय पन्द्रह दिनों में जिन लीला स्थलों पर पधारे उन स्थानों का चित्रण पन्द्रह दिन की सांझी में होता है । प्रभु के लीला स्थल जैसे शृंगार शिला आदि ।

अपने जनों में 'वरण' रूप वीज प्रभु धरते हैं । सेवारस और कथारस से सिंचित हो कर ये बीज अंकुरित होते है कलियों का रूप धारण करते हैं । प्रभु के विशेष अनुग्रह दान, स्नेह से, यह कलियाँ फूल वनती हैं । भक्ति की पल्लवित हुई यह परिपक्व स्थिति है। यह फूल तैयार है समर्पित होने को साँझी में और प्रभु लालायित हैं उन्हें अंगीकार करने को दान में । दान और साँझी का यह खेल भक्त और भगवान का नित्य ही है ।

वेद के गायत्री मंत्र में बीज प्रणव ही माना गया है । श्री महाप्रभु जी ने वेदों को ही शास्त्रों का आधार माना है । प्रणव के दोनों ही अर्थ हैं 'ओऽम और 'प्रणव' । ओऽम द्वादश कला वाला तथा प्रणव षोडश कला वाला माना जाता है । श्री महाप्रभु षोडश कला वाले प्रणव को ही बीज स्वीकार करते हैं । इस वीज के पोषण के लिये तीनों समय की संध्या का विधान है । अपने यहाँ भी तीनों समय संध्या की भावना है । सबेरे की संध्या प्रभु के गोचारण के लिये वन में पधारने पर विप्रयोग की भावना की है जैसे- 'चलसि यत् ब्रज चारयन् पशून्' इस संध्या का स्थान घर में है ।

दूसरी संध्या दोपहर के समय की है इसका स्थान वन है' त्रुटि युगार्यते - - - - '

तीसरी संध्या पुनः घर की है शाम के समय की है - 'दिन परीक्षये नीत कुन्तले --'

एक चौथी संध्या तुरीय संध्या है । यह ज्ञानोपासना अथवा भाव भावना है । ब्राह्म महूर्त में उठकर ज्ञानी जिस प्रकार भगवत्-चिन्तन करता है अथवा खण्डिता भक्त भाव से भगवत्- आराधन करते हैं उसी प्रकार की यह उपासना है । इस संध्या में कोई समय , स्थान तथा साधन की आवश्यकता नहीं है । ज्ञानी संध्या की फलित दशा में ब्रह्म में सायुज्य पाता है और भक्त सर्वात्म भाव से स्वरूपानन्द का दान पाता है ।

(पू. पा. गो. प्रथमेशजी के वचनामृत से संगृहीत)

वैष्णवता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

अवन्तिका के सिंहस्थपर्व पर जो वैष्णवता एवं साधुता के दर्शन हुए, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वैष्णवता एवं स्वधर्म भावना हृदय से नहीं अपनाई गई । आज जो भी बाहरी प्रदर्शन किया जा रहा है उससे अन्तःकरण की वृत्ति का सुधार सम्भव नहीं है ।

स्वधर्म एवं प्रभु से प्रेम की अपेक्षा केवल द्रव्य से एकमात्र हार्दिक स्नेह है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । ऐसी मनोवृत्ति के मनुष्यों के सामने एक ओर द्रव्य और दूसरी ओर भगवत्स्वरूप रखा जाय तो इनकी चित्तवृत्ति प्रभु को छोड़कर धन की ओर ही झुकेगी या उसका निरोध धन में ही होगा । साधनों की निरन्तर दासता और विज्ञान का जड़वादी प्रभाव इनके निरन्तर चिन्तन पर, प्रत्येक क्रिया में दिखाई देता है ।

किसी भी वस्तु अथवा विषय पर निरन्तर सोचने का ऐसा प्रभाव जीवन के अन्दर और बाहर होता है । यह लोक-चिंतन एवं व्यवहार की प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज पर भिन्न रूप से प्रकट होती हैं ।

धार्मिक चिन्तन और मनन का माध्यम जब लोक-व्यवहार द्वारा हो तो धर्म के सुन्दर स्वरूप का मन में शुद्ध चिन्तन नहीं हो सकता । इसीलिए स्वधर्म विचारों में गौण हो जाता है और व्यवहार की विषमता से पीड़ित व्यक्ति धार्मिक स्थानों पर भी उचित लाभ नहीं ले सकता और उसकी सेवा एवं समर्पण की भावना को स्वार्थ का आवरण ढँक लेता है । इसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भावात्मक परिवर्तन के रूप में शरीर और विचारों द्वारा होती है जिसका अच्छा या बुरा प्रभाव अवचेतन मस्तिष्क पर होता है। इसीलिए धर्म में श्रद्धा और भावना का समन्वय श्री वल्लभाचार्य करते हैं । यदि वैष्णवता के सच्चे स्वरूप एवं सेवा और समर्पण के निष्कामभाव स्वरूप को सरस समझ कर हमारा समाज व्यवस्थित हो जाय तभी वैष्णवता का रूप साकार होगा और विश्व जनसमुदाय को निर्गुण भक्ति मार्ग द्वारा अनुकरणीय आलोक समर्पित कर सकेगा ।

इसी से श्रीमद्वल्लभ हमें स्वरुपस्थित होने का उपदेश देते हैं । वैष्णव जीवन की निष्काम सेवा का अपना वैशिष्ट्‌ हैं । इस विशेषता को हम पहचानें और जीवन और व्यवहार को धर्म वुद्धि पर आधारित करें; तभी इसका सुफल भगवान्‌ के अनुग्रह से हमें प्राप्त होगा । वैष्णवता का पवित्रवेश ही पातकों की निवृत्ति है । इतना ही नहीं इसमें त्रिभुवन परमप्रेम के प्रकाश से प्रकाशित होता है । यह वातों तक सीमित सिद्धान्त नहीं हैं । इसमें धर्म के दोनों ही स्वरुपों का सुन्दर समन्वय हैं । जिसमें आचार (प्रथम धर्म) एवं विचार का आन्तरधर्म दोनों ही प्रभु श्रीहरि के श्रीचरणों में सहज समर्पित होते हैं ।

यह वह प्रणाली है जिससे प्रपंच में प्रभुदर्शन का निर्दुष्ट दृष्टिकोण प्राप्त होता है । हमें प्रभु में प्रपंच नहीं देखना है, यह मनमें निश्चित करने से ही आत्मबल प्राप्त होगा ।

आज सभी स्थानों पर धनिकों की मनस्विता पर ही धर्म का संचालन हो रहा है । इसे पुष्टिमार्गीय भावना का झूठा नाम दे रहे हैं । क्योंकि जिस भावना से भावनात्मक भगवान का साक्षात् होता है वह ऐसी मनस्विता या कल्पना पर आधारित नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो आचार्यश्री इसे निस्साधनों का साधन नहीं कहते । ऐसी प्रणाली से आज भगवत्स्वरुप की धार्मिक मर्यादा ही समाप्त होती जा रही है । जब भी भावना पर धार्मिक नियन्त्रण उठ जाता है और आचार्य धन या शिष्यों के अधीन उनके झूठे सम्मान के लिये बाध्य होता है, तब धार्मिकता की स्थिति दयनीय हो जाती है । यह एक शुद्ध व्यवसाय का स्वरूप है जहाँ ग्राहक की इच्छा ही प्रधान है ।

आज वैष्णव धर्म सीखने नहीं, धर्म सिखाने आते है । यह वृत्ति शिष्यभाव की अपेक्षा धनमद की ही परिचायक है । बड़े आदमी आचार्य अथवा सन्तों के दर्शनार्थ नहीं उनसे मिलने जाते हैं । इतनी ही इसमें कमी है कि वे भगवान् से मिलने नहीं जा सकते क्योंकि उसके लिये परलोक गमन करना होगा और इसके लिये उनकी तैयारी नहीं है । साथ ही सम्मुख प्रभु का स्वरूप एक आदरणीय पाषाण प्रतिमा ही है । उसमें स्वरूप का बोध इनको नहीं हो सकता क्योंकि भगवत्स्वरूप का ज्ञान ही आडम्बर शून्य व्यक्ति को होगा; ऐसी शास्त्रीय दृढ़ मान्यता हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता कि शास्त्रीय मर्यादानुसार ऐसे व्यक्ति आचार्य से आज्ञा लेने नहीं, उनको आज्ञा देने आते है; जिसे आचार्य को नतमस्तक होकर स्वीका र करना ही उनका धर्म हैं । यही स्थिति संस्कार कराने वालों की है ।

ऐसे ही लोग शक्ति के आगे झुकते है व भक्ति के आगे नतमस्तक नहीं होते । जब कि श्री वल्लभाचार्य उपदेश और शक्ति से नहीं , भक्ति से सर्वस्व समर्पण करते हैं । सिकंदर लोदी के काल में महाप्रभु ने शासकों को यही समझाया था कि तलवार के बल से माथा काटा जा सकता है किन्तु धर्म नहीं सिखाया जाता । न इस प्रकार से मनोवृत्ति का ही परिवर्तन हो सकता है । फिर भी जो काम शस्त्र नहीं कर सके वह धन और छल ने स्वाभिमानपूर्वक कर दिया । आज भारतीयों को धर्मपालन में तो आपत्ति है परन्तु अनैतिकता में किसी प्रकार का आन्तर विरोध नहीं है । यह विदेशी गुलामी से भयंकर दासता है जो देश के आर्ष एवं आर्ष परम्परा का ही विच्छेद करने पर उतारू हैं । यह बाहरी स्वरूप की छलना है जिसका परिणाम सामने होते हुए भी समाज उसका परित्याग नहीं कर सकता है । आज यह हमारे सामाजिक उत्थान के लिए भी आवश्यक है कि वैष्णव समाज इसकी हृदय में धारणा करे ।

आज का विज्ञान जिसका आधार लेकर मानस पर प्रभाव डाल रहा है और जो उसकी प्रामाणिकता अंधश्रद्धालु होकर स्वीकार करते हैं जिनको वार -वार वैज्ञानिक या

साइन्टिफिक कहने का फोबिया (सनक) हो गया है उनको यह समझ लेना चाहिए कि वैज्ञानिक गुथरस्टेट के मतानुसार अपनी समान उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर स्वयं ह्रास की ओर नहीं जा रहा उससे समाज और जीवन एवं आध्यात्मिक चिंतन के साथ ही नैतिक स्तर को भी अपने साथ खींचकर विनाश की ओर ले रहा है । जिसे आज विकासवाद कहा जा रहा है वह वस्तुतः ह्रास या विनाश वाद होकर समस्त नैतिकता और आत्मिक विवेक को समाप्त करने पर तुला है । चाहे मानवता की आड़ लेकर कूटनीतिक विचारक कितनी ही शिक्षा देने का प्रयास करें, वह उन्हीं के द्वारा आज विफलता का वरण कर रही है । जिस निष्ठा को धर्म ने सामान्य रूप से लोक मानस में जाग्रत किया था, उसका नाश करके समाज को धार्मिक दासता और आत्मपतन ही उपहार में मिला है ।

आचार्य वल्लभ ने अपने भक्तिमार्ग द्वारा जन सामान्य को आर्थिक दासता से आत्मविश्वास द्वारा मुक्त किया है । यह उनके जीवन की समाज को अनुपम देन है जिस पर भक्ति मार्ग के भव्य भवन ब्रह्मवाद की पताका लहरा रही है । इस पर धर्माभिमानियों ने आज अपना मजबूत अधिकार जमा लिया है , जितना ही प्रयास करो आज एक धनिक अपनी भ्रष्टबुद्धि से धर्म की व्याख्या करने की अनाधिकार चेष्टा कर रहा है और धार्मिक समाज को यह सब मूकपशु की भाँति सहन करना पड़ रहा है क्यों कि वर्तमान धर्म धनाश्रित ही नहीं धनिकाश्रित है । स्वधर्म की ऐसी अवास्तविक व्याख्या को वाल्लभमत के अनुसार स्वीकार नहीं कर सकते ।

आचार्य श्रीवल्लभ भागवत को चौथा प्रमाण मानते है । इस परमप्रमाण ग्रंथ में ही धन की प्रमुखता से होनेवाले मानसिक और अन्य दूषणों का गहन विवेचन है । इसका तात्पर्य भी धनिकों की अधीनता से या सत्ता एवं शक्ति की दासता से लोगों को मुक्त करना था । जब तक हमारा समाज इससे और इसके दूषणों से मुक्त नहीं होता , सच्चा धार्मिक और आदर्श समाज नहीं बन सकता । यह निरस्त भक्तिमार्ग का मूल स्वरूप है । आज जिस प्रकार से हम धर्म कर रहे है उसमें वास्तविकता न आने का यही कारण हैं । भागवत दर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि 'स्तेय हिंसा- नृतं दम्भ कामः क्रोधः स्मयोमदा भेदो वैरं अविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानिच एते पंचदशानर्था, ह्यर्थमूला मतानृणां तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत्' भा.स्क.अ.२३ श्लोक १८ -१६ में अर्थप्रधान एवं अर्थचिन्तक और उसकी आराधक की मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्रण हैं जिसे आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साफ देखा जा सकता है ।मन में ,चोरी करने की वृत्ति हिंसा, झूठ, दम्भ वासना (सेक्सप्रधान चित्तवृत्ति) या सेक्सुअल थिंकिंग अथवा निरन्तर स्वार्थ-चिन्तन एवं स्वसुख की कामना चाहे वह किसी भी प्रकार से प्राप्त हो आश्चर्यकारक है । स्मय और मद भी मनुष्य के पतन कारक हैं और आज भी यह हमारे सामने घटित हो रहा है । मद की मादकता के विषय में कवि का कहना है कि "कनक कनक तै सौगुनी मादकता अधिकाय , या खाए वौरात है वा पाए वौरात"धतूरे के विष से भी सौगुना मद धन की मादकता में होता है ।

जिसे पाकर मनुष्य बौखला जाता या वहक जाता है । मद तो किसी का भी बुरा होता है। किन्तु आज धनिकवर्ग के पास किसी भी धर्मकार्य के लिए दान मांगने जाओ तो प्रथम धर्म निंदा ही सुननी पडेगी , मानों सभी धर्मो के यही ठेकेदार हैं । ऊपर से तुर्रा यह है कि अपने कर्म और कृत्रिम आस्था की ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता और इनके द्वारा जो भी होता है धर्म ही माना जाता है । अपने सम्मान का परमेश्वर से भी अधिक ध्यान करने वाले आज के (धन) प्रमत्त पूँजीपति (जिनके लिए अंग्रेजी का कपिटलिस्ट शव्द ही उचित है) अपने ही विवेक को सर्वोपरि मान कर धर्म के और आदर्श के सिद्धान्तों को व्यापार की दृष्टि से सोचते और समझते हैं । ये भारतीय श्रेष्ठि वर्ग नहीं है क्यों कि कैपिटल ही इनका इष्ट है । ऐसे व्यक्ति गरीव और धनवान् दोनों में ही देखे जा सकते हैं । इनके बल पर आधारित कोई धर्म और आदर्श कभी अपने स्वरूप में जीवित नहीं रह सकता; यह तथ्य आचार्य वल्लभ ने सरलता से अपने ग्रंथ में समझाने का अनुग्रह किया है । श्री हरिरायजी भी इसकी शिक्षापत्र में मननीय रूप से भावात्मक व्याख्या करते है । धनिक वर्ग का (स्मय) गर्व पुष्टिभक्ति में उपकारक नहीं है यह तो आश्चर्यजनक है कि ऐसे व्यक्ति भक्ति मार्ग में सर्वेसर्वा बने हुए हैं । गर्व से यथार्थ दृष्टि नहीं रहती । आचार्यश्री श्रीहरि की प्रसन्नता का उपाय भक्तों की दीनता ही स्वीकार करते हैं । इनकी लोभवृत्ति और भेद की भावना ने समाज का वर्गीकरण ही दूषित कर दिया है , आज तो इनकी स्वतंत्र क्लास (श्रेणी) ही है । इस अर्थ का साधन सिद्ध करने के हेतु और उसका विस्तार करने एवं रक्षण करने और उसे खर्च करने में उसके नाश एवं भोग में जो मानव परिश्रम करता है उससे उसको त्रास ,चिंता होना स्वाभाविक हैं । आज धनिकों को सतत चिंता धन की ही रहती है और उसके उपभोग के मार्ग इनके पास जुआ खेलना , स्त्रीगमन और मद्यपान का ही मार्ग है जिसमें इनको धन का सदुपयोग प्रतीत होता है और वहां यह प्रश्न नहीं हो सकता कि इनको इस प्रकार द्रव्य का दुरूपयोग करने का क्या अधिकार है ? और यह पूछना भी अशिष्टता होगी क्योंकि इन्हीं के बल पर धर्म साधन और प्रचार निर्भर करता है। श्री हरिरायजी की यह शिक्षा कि धन को सेवोपयोगी मान कर उसका रक्षण करो और श्री पुरूषोत्तम जी महाराज का यह उपदेश कि भगवत्सेवा के लिए ही परिग्रह (धन-संचय) ठीक है । सेवा से विमुख करने वाली संचय की भावना समाज में वर्ग-संघर्ष और आत्मपतन का ही रूप हैं । इनकी भेद नीति से आज समाज, धर्म, संस्कृति सभी संत्रस्त है और साम-दाम-दंड आदि अनेक उपायों से, चाहे वे शुद्ध न हों, उनका स्वच्छन्द उपयोग और आत्मीयता का परित्याग ये इनके जीवन के अंग वन जाते हैं जो कि वैष्णवता की मूल भावना से ही सर्वथा विपरीत है । यह कैसा आश्चर्यकारक है कि आज का पुष्टिमार्गीय समाज अपने स्वरुप को भूलकर इनको महान् मानने लगा है । स्वधर्म सेवन में और प्रचार में संस्पर्धा या टफ काम्पीटीशन और दूसरे के पतन की कामना का प्रभाव इस पूँजीवाद की देन है जो सर्वथा पश्चिमी चिन्तन पर आधारित है ।

आचार्य श्रीवल्लभ ने और उनके अनन्य उपासकों ने भी कभी इसे जीवन का साध्य नहीं माना । राजा श्रीकृष्णदेवराय को दीक्षा देने के बाद भी सात स्वर्णमुद्रा लेकर उसका प्रभु विनियोग किया । यहाँ यह मननीय है कि आचार्य ने और उनके शिष्यों में ईश्वर के नाम पर कमाई नहीं की । शुद्ध साधन और शारीरिक श्रम से ही प्राप्त द्रव्य, जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक था, उसे प्राप्त किया । धनिक साम्राज्य में भगवत्स्वरुप भी वाणिज्य का माध्यम बना और धनिक भगवान के पास ही भक्तों की भीड़ लगती है । जंगल में कोई मंदिर हो तो उसे साफ करना भी कोई अपना धर्म नहीं समझता । अतः यह निर्गुण भक्तिमार्ग की साधना के विपरीत कुवेर साधनां ही है जिसे आज वित्तजा सेवा का नाम दिया जा रहा है । क्रोध - वैर - हिंसा और विघटन तथा अनेक सत्संग मण्डलों का स्थापना का महत्व अपने दल निर्माण के अतिरिक्त अब कुछ भी नहीं रह गया । भक्तिमार्गीय संगठनों में स्ट्रगल फार एगजिस्टेन्स का संघर्ष कूटनीतिक रूप से भी विकृत हो रहा है । अंहकार और स्वार्थ की पीड़ा से छटपटाती मानवता को आज सान्त्वना की आवश्यकता है । ये सभी काम शुद्धभक्तिमार्गीय संगठन के बिना पूंजीवादी पश्चिमी वृत्ति से नहीं हो सकता ।

चाहे वह संपन्न हो या निस्साधन जब तक पूंजीवादी मनोवृत्ति से मुक्त नहीं होता निर्गुण भक्तिमार्ग का अधिकारी नहीं हैं । भक्तिमार्ग का धार्मिक इतिहास इसका साक्षी हैं कि भक्त वोडाणा, नरसीमेहता, तुकाराम, तुलाधार वैश्य और सेठ पुरुषोत्तमदास । आचार्य वल्लभ के किसी शिष्य में जब भी पूंजीवादी प्रवृत्ति पनपी श्रीमहाप्रभु ने उनका त्याग ही किया है । यही वात प्रभुचरण श्री विट्ठलेश्वर के चरित्र से भी स्पष्ट हो रही है जिसका निर्वाह बाद में भी आचार्य परम्परा ने सम्पत्ति का परित्याग करके किया है । आज की यह दासता धर्म की भावना को प्रवल करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध है । आज जो धर्म में भयानक प्रान्तीयता के दर्शन हो रहे हैं इसके मूल में पूंजीवादी दूषित दृष्टिकोण ही प्रधान कारण है। नहीं तो आज तक किसी भी भारतीय आचार्य और ऋषियों ने कभी प्रान्तीय या क्षेत्रीय भावना से धर्माचरण का उपदेश नहीं दिया । यह बात और है कि योग्यता का विचार करके उसे आत्म कल्याण के मार्ग का यथाशक्य आचारण बताया हो । श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भगवान श्रीकृष्ण के सर्वोद्धारक स्वरुप का चिन्तन इसी हेतु किया है। यही स्वरूप श्री यमुना का है । जिसे आचार्य श्री विट्ठलेश्वर ने टीका ग्रन्थ में प्रकट किया है ।

जैसै वैदिक विवाह पद्धति में विवाह करने का प्रयोजन यज्ञ करने के अधिकार के लिए वतलाया है, केवल वासना पूर्ति के हेतु नहीं बताया है । इसी प्रकार श्रीमहाप्रभु एवं श्रीहरिराय आचार्य ने भी विवाह आदि कार्यों में सेवोपयोगिता का ही लक्ष्य वतलाया है और लौकिक कार्यो में अनावश्यक धन का व्यय करने का भी निषेध किया है किन्तु जितना वाहरी प्रदर्शन और झूठे आडम्वर का प्रवेश धर्म में हुआ है यह पूँजीवादी प्रदर्शन और

व्यावसायिक वृत्ति की ही देन है जिसने वैष्णवता के स्वरूप को ढँक दिया है । निस्साधन भक्तिमार्ग की साधना को साधन ने पंजे में जकड़कर उसके साधकों का मनोबल गिराया है । वैष्णवों ने जीवन में वैष्णवता अपनाने के स्थान पर लोक व्यवहार का ही रूपान्तरण धर्म में करने की प्रेरणा इन्हीं से सीखी है और धनाश्रयी एवं सत्ताश्रयी धर्म का आधिपत्य इतना प्रबल हो गया है कि हमें आचार्य चरणों का आश्रय लेकर सच्चे स्वधर्म सेवक बनने का प्रयत्न करके परिषद् को सशक्त संस्था बनाकर वैष्णवों के करोड़ों हाथों को इस सेवाकार्य में लगाकर आत्मोन्नति करनी चाहिए । पहले दान आत्मकल्याण के लिये करते थे और अब एहसान के लिये होता है । इतना ही नहीं पहले भिक्षा देना भी शुभकार्य था और भिक्षुक को भी सन्मान दिया जाता था । आज उसका पद - पद अपमान और अनादर करना ही पूँजीवादियों की आराधना है ।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए जो धर्माचार्यो को परिग्रह करना पड़ा उससे यह समाज में धारणा हो गई कि धर्म से प्रभावित न होकर व्यक्ति वैभव से प्रभावित होवेगा और इससे सत्ताधीशों और पूँजीवादियों का दबाव बढ़ गया । इससे बचने के हेतु आचार्य श्री और उनके बाद के आचार्य देशाटन करते रहे । और कभी भी अपने सामान्य योगक्षेम और भगवत्सेवार्थ इनके आश्रय के लिए वाध्य नहीं हुए । वर्तमान् परिस्थिति में जो हृदय से वैष्णव हैं उनको एवं धर्माचार्यों को इस पर सम्पूर्ण विचार कर स्वधर्म रक्षा हेतु सवल माध्यम जनता को देना चाहिए । हमारे मतानुसार यह कार्य केवल परिषद् द्वारा ही संभव है जहां हम सभी वैष्णवों में आत्मवल और समर्पण की भावना जाग्रत करके उनको स्वधर्म का सच्चा सेवक बनाकर एक ऐसा संगठन दे सकते है जो निस्साधन भक्तिमार्ग का वास्तविक प्रतिनिधि हो । और इसके द्वारा समाज की अनेक क्षतियाँ, सेवाभावना, से हम ससम्मान दूर कर सकते हैं । आशा है सभी इस निष्कन्टक मार्ग का अनुसरण सच्चे हृदय से करके श्रीमदाचार्य चरणों में अपनी कर्त्तव्यांजलि भावना सह समर्पित करेंगे । यही हार्दिक अनुरोध है । शेष भगवत्कृपा ।

(अ.रा.पु. वैष्णव परिषद् कलकत्ता : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य प्राकट्योत्सव स्मारिका से साभार)
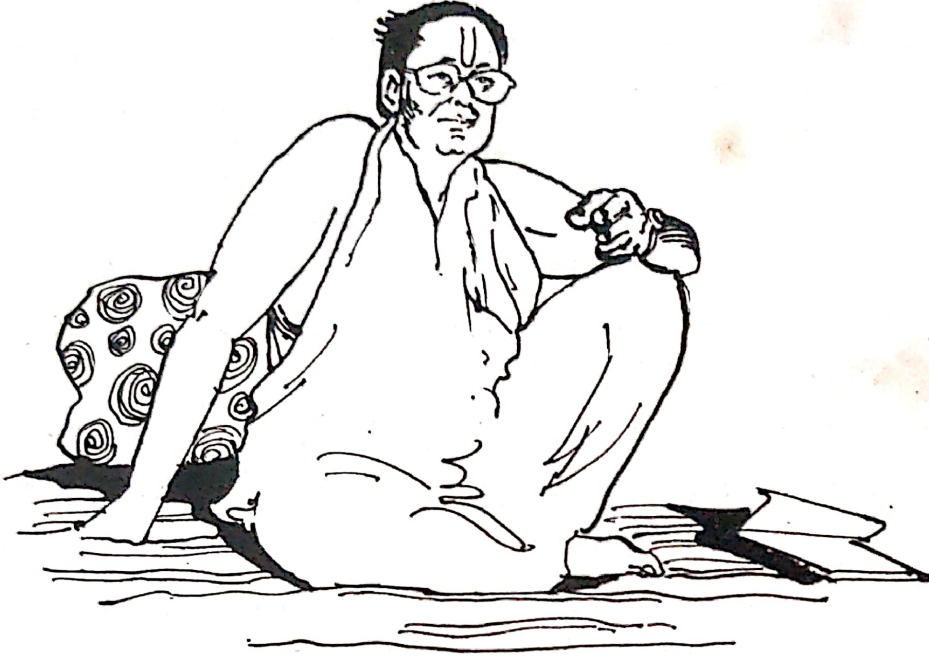
स्वधर्म से लोक जीवन सँवारे

धर्म से जीवन में प्रेरणा लेनी चाहिए । धर्म केवल परलोक जाने या सुधारने का ही माध्यम नहीं है । इससे लौकिक जीवन में भी निखार आता है । यह मान्यता श्री वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर प्रकट की है । इससे यह जानना सरल है कि जिसने धर्म के द्वारा इस लोक में जीवन सफल नहीं बनाया उसका परलोक साधन उत्तम फलदाता है, यह सुनिश्चित नहीं कह सकते । यह समझकर कर ही चलना श्रेयस्कर है कि सभी धर्म एवं सम्प्रदाय मानव समुदाय को इस लोक में ही जीवन की शिक्षा देते हैं।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तो इस प्रपंच को भी भगवत्कार्य मानते है और हमारे जीवन को सेवोपयोगी ही नहीं जीवन धारण को भी सेवार्थ ही मानते है । यही धर्म का वास्तविक स्वरूप है । क्योंकि परलोक की प्राप्ति की साधना वेदों में भी इसी लोक में करने का निर्देश है । इसलिए लौकिक जीवन एवं भारतीय कर्म भूमि की प्रशंसा शास्त्रों में भी मिलती है। ''अहो अमीषां किमकारि शोभनं'' इन भारतीय जीवों ने ऐसा कौन सा सुकृत किया है

जिससे स्वयं श्री हरि इन पर प्रसन्न हैं । इस प्रकार सेवा धर्म की विशेषता और कर्म की विशेषता दोनों ही शास्त्रों से प्राप्त होती है । इसकी पुष्टि भक्तों ने "कौन सुकृत इन व्रज वासिन को" इस कीर्तन द्वारा की है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि लौकिक जीवन महत्वपूर्ण है । इसकी उपेक्षा से धर्म साधना सम्भव नहीं होती । यह सिद्धांत धार्मिक ग्रंथ एवं आचार्यो को सर्वसम्मति से स्वीकार्य है । इसमें प्रकार भेद होते हुए भी यह निश्चित तथ्य माना गया है । यह निर्विवाद है । इसलिए धर्म का आचरण हम कैसे करें यह प्रत्येक व्यक्ति को समझाकर उसे क्रियान्वित् करना चाहिए । मानव स्वभाव में जो दोष आते हैं उनको आचार्यश्री की वाणी एवं भगवदीयो के चरित्रों के मनन से दूर करना चाहिए। जगने पर एवं शयन के समय प्रभु स्मरण करना और मानसिक राग द्वेष को निकालने का प्रयास करना । श्री हरिरायजी की वाणी इस दिशा में सरलता से मार्गदर्शक हो सकती है ।

यह हमेशा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे मुखरता आदि दोष दूर हों । यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति वुरी भावना रखता है तो उससे भी प्रयत्नपूर्वक भगवत्स्मरण करना चाहिए और चाहे उसका व्यवहार एवं वाणी कुछ भी हो उनका चिन्तन नहीं करना चाहिए । महाप्रभु श्री वल्लभ ने हमें दोषों का मनन न करने का आदेश दिया है । उसका स्मरण करना चाहिए । मनन करने से दोष जीवन में आ जाते हैं इसलिए दोष देखना और मनन करना उचित नहीं है । मन निर्मल रखना चाहिए जिससे स्वधर्म के लिए किसी के यहां जाने में संकोच नहीं करना चाहिए भले ही उसका हमारे प्रति अनुचित व्यवहार हो । हमें अपने स्वधर्म के स्वरूप और महत्व का ही चिन्तन करना चाहिए, उसके व्यवहार या व्यक्ति का नहीं । वुरी वातों को कभी नहीं विचारना, यही उचित मनन एवं चिन्तन में सहायक है । सर्वसमर्थ हमारे प्रभु हमारा कल्याण ही करेंगे यह निश्चय करके ही यथाशक्ति धर्म का आचरण करने से मन निश्चिन्त रहता है ।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि मैं प्रभु श्रीहरि का सेवक हूँ और ये सभी जन भगवदंश हैं, इसलिए मेरे आत्मीय हैं । ऐसी भावना रखकर अपनों द्वारा बुरा भला कहने पर क्षोभ न करें अथवा अपना अपमान न समझें । क्योंकि स्वधर्म में मान एवं अपमान का विचार हमें विचलित कर देता है । किन्तु यह भाव स्वार्थपरक नहीं शुद्ध मन से ही रखना उचित है । इस प्रकार अनेक जीवनोपयोगी निर्देश हमारे धार्मिक साहित्य में श्री वल्लभाचार्य ने दिए हैं । जिनसे धर्म एवं व्यवहार का समन्वय स्थापित किया जा सकता है । इन आदेशों को जीवन में उतारने के लिए इनका चिन्तन करना आवश्यक है । यदि ऐसा शुद्ध भाव से किया जाए तो जीवन में शान्ति मिलती है और अनेक समस्याएँ अपने आप सुलझ जाती हैं । यह अच्छे प्रकार से तभी होगा जब श्रद्धा से आचार्य श्री की वाणी का आचरण किया जाए । अन्यथा इसका प्रभाव नहीं होगा । वर्तमान में हमारी विडम्वनाओं का कारण यही है कि हम धर्म को व्यवहार में तनिक भी स्थान नहीं देते । जो स्वधर्म

हमारे अंतःकरण को परितोष देने में समर्थ है उसका आचरण करने से इच्छित फल अवश्य प्राप्त होता है । आज वैष्णव तो हैं किन्तु उनमें वैष्णवता नहीं है । जैसे मानव सभी है परन्तु उनमें मानवता नहीं है । ऐसी स्थिति हमारे समाज की है जो अपनी दुर्भावना और दुराग्रह से मुक्त नहीं हो पा रहा है । यह अपने आप में एक तथ्य है कि जिन कारणों से स्वधर्म का विघटन हुआ है, प्रकारान्तर से भी वे सभी कारण परिवार एवं समाज के विघटन में भी निहित हैं ।

फिर भी यह अनुग्रह-मार्ग है और समर्पित जीवन को प्रभु ने स्वीकार किया है इसलिए श्री हरि सभी को समझने योग्य प्रेरणा प्रदान करें तभी मानव या वैष्णव समाज को सही दिशा पर चलने और देखने की दृष्टि मिल सकेगी अन्यथा अभी का वातावरण तो उपयुक्त दिखाई नहीं देता । आशा है वैष्णव समाज भगवत्कृपा से अपने स्वरूप एवं स्थिति को समझ कर कर्त्तव्य पालन की ओर अग्रसर होगा । आज यह अनिवार्य आवश्यक है कि हम सभी दिशाओं से विघटन को रोकने का प्रयास करें । और अपने संगठन का लौकिक तथा अलौकिक महत्त्व समझने का पूर्ण प्रयास करें ।

वर्तमान परिस्थिति और धर्म

श्री वल्लभाचार्य ने धर्म को अमीर और गरीब दोनों के लिए समान रुप से स्वीकार किया है ।

इस क्षेत्र में सभी एक स्तर पर मिल-जुलकर रह सकते हैं । किन्तु आज जिस प्रकार धर्म धनिक और धन का आश्रित हो रहा है उससे इसका मूल सेवा और समर्पण का स्वरूप छिपता जा जायेगा और यह एक धनिक के आश्रित संस्था बन कर रह जायेगा; जिसका जीवन और भावना से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा ।

जैसे जैन धर्म में साधु आन्दोलन को कुचलने की राजनैतिक चाल चली जा रही है और उसका दुष्प्रभाव उस संप्रदाय पर होगा ऐसे ही वल्लभसंप्रदाय के ये संस्थान धर्म का आश्रय छोड़कर धन का आश्रय लेकर अपने निर्वाण की ओर जा रहे है ।

यह एक सच्चाई है कि धन के बिना काम नहीं चलता फिर भी धन और धनिक वर्ग का आधिपत्य और बात है ।

हमारे आचार्य और विद्वान इस दिशा में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि जब भी धर्म पर धनिकों का आधिपत्य वढ़ा और उनके विचारों के आधीन सदाचार और निष्ठा के साथ नैतिकता पर आधारित रही है ।

समर्पण में शर्त और अभिमानी से प्रेम ये दोनों ही बातें परस्पर नहीं मिलती ।

तिजोरियों के मुँह खोल देने से वास्तविक क्रान्ति को कोई दवा नहीं सका; ऐसे ही धर्म पर आधिपत्य की भावना से धर्म प्रभावित नहीं होगा । इसकी प्रतिक्रिया यह होगी कि जन-जीवन से नैतिकता के सभी मूल्य समाप्त हो जायेंगे ।

सेवामार्ग एक महान् त्याग का मार्ग है जिसमें सभी धर्म और जीवन का अस्तित्व समाहित हो जाता है । फिर भी इसके महान् मूल्य को श्री वल्लभाचार्य के अनुयायी नहीं समझ रहे, यह विचित्र बात है । इसे काल का ही प्रभाव कहा जायेगा । सूरज और चाँद नहीं बदलते, दिशा नहीं बदलती और प्रकृति के नियम भी नहीं बदलते, किन्तु मानव की मनोवृत्ति ही बदलती है जो जमाने को बदलता हुआ दिखाती है ।

यह परिवर्तन जब मूल की उपेक्षा कर देता है तो स्थूल भी उखड़ जाता हैं , नये नये मंदिर और नवीन पन्थ सभी तो इसी ओर इशारा कर रहे हैं । राष्ट्र और संस्कृति के साथ ही हमारे समाज के सामने वहुत सी समस्याएँ हैं और उनका समाधान धर्माचार्यों को ही आगे आकर करना चाहिए । तभी एक चुनौती का सामना करके भारतीयता की रक्षा होगी । श्री वल्लभाचार्य और विट्ठलेश्वर ने अपने जीवन में यह स्पष्ट कर दिया था । क्या आज श्री वल्लभाचार्य के अनुयायी इस परिस्थिति के हेतु तैयार हैं ? इतिहास साक्षी है कि इस निर्गुण भक्तिमार्ग के द्वारा एक ऐसा पथ प्रदर्शन हुआ था जिसमें जातीय और वर्गीय मतभेद समाप्त हो गये थे और सभी ने भक्ति का उद्घोष करते सेवा और समर्पण के द्वारा सभी को प्रेमलक्षणा भक्ति का मृदुल संदेश अपने जीवन के द्वारा दिया था ।

आज धनिकों का आधिपत्य इसके मूल स्वरूप को समाप्त कर देगा । और यह जो धार्मिक संघर्ष और वर्ग संघर्ष को जन्म देगा उससे पूंजीपतियों का प्रभाव होने से निस्साधन जनों का चरित्र सुधरा नहीं है । साथ ही राजनीति की आधारभित्ति से सोचकर धर्म के निर्मल चिन्तन को लोंग विकृत रुप में देखने में लगे है ।

जैसे चीन और रूस में धर्म भावना का अंत नहीं हो सका और न ही होने की सम्भावना है क्योंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य जीवन और विचारों से दृढ़ता से बंधा है । किन्तु क्रान्ति ने पूंजीवाद की जड़ उखाड़ कर उसका स्वरूप और आधिपत्य समाप्त कर दिया; ऐसे ही कभी धनिकों को इसका परिणाम भोगना पड़ेगा । जैसे पैसे से प्राण नहीं मिलते ऐसे ही आदर्श भी नहीं मिल जाता है । इन दोनों का सम्वन्ध आचार और विचारों के साथ जीवन और समाज से जुड़ा हुआ है ।

कौतुकी राजनीति और कौतुकी धर्म मानवता को नहीं वचा सकता । यह आज व्यवहार में स्पष्ट हो रहा है । पतिव्रता का स्नेह जैसे वारांगना से नहीं मिल सकता इसी प्रकार धर्म के अभिमान से धर्म के सिद्धान्त जीवन में नहीं आते । क्योंकि अभिमान आत्मा की आत्मीयता से बहुत दूर है । एक स्वाभाविक समर्पण है और एक वनावटी शालीनता है । मनुष्य स्वयं भी इसको हृदय से स्वीकार नहीं कर सकते । इसलिए दूसरों से यह अपेक्षा ही विघटन और विखण्डन का कारण बन गई है । यह समस्या देश और धर्म के

सामने ज्यों की त्यों खड़ी है । किन्तु फिर भी मजा यह है कि कोई भी परिवार संगठित नहीं हो पाता । तब समाज और अन्य की क्या आशा की जा सकती है । महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने जिस दृढ़ता का आधार दीन-हीन जनों को दिया था आज उसी अपनेपन के सहारे की हर व्यक्ति और समाज को आवश्यकता है जहाँ समर्पण स्नेह और सेवा से किया जाता था । विवशता से यह बात आती नहीं है ।

आज तो धर्म की बात कहना ही कुछ और समझा जाने लगा है । खास कर हिन्दू धर्म और वल्लभ संप्रदाय की एक ऐसी स्थिति हो गई है कि -

''हम आह भी भरते हैं, तो हो जाते हैं बदनाम,

वो कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता ।''

फिर भी धर्म तो धर्म ही हैं और उसका प्रकाश सही रूप से जनता को मिले तो उसके जीवन में वहुत वड़ा परिवर्तन आ सकता है । न जाने कौन पहल करेगा और कौन मार्गदर्शक वनेगा यह तो भविष्य में छिपा है फिर भी एक चाह है जो बढ़ती जा रही है सचाई को समझने की ओर । फिर भी वाधाएँ और बढ़ रही है । क्योंकि यह धर्म का आभास है, धर्म नहीं किया जाता है ।

नियति क्या है यह तो नियंता जाने । हम तो देख सकते हैं और प्रतीक्षा कर सकते हैं । फिर यदि हृदय से धर्म का आचरण और प्रभु का आश्रय लें तो आज भी समाज को वहुत वड़ा आत्मवल और महान् चेतना मिल सकती है । परिस्थिति को देखकर तो यही कहा जा सकता है कि भगवान बचाये धर्म, संस्कृति और मानवता को ।

(श्रीमती देवीरानी खट्टर से प्राप्त 'श्री वल्लभ स्वर' १८ - ६ - ८२)

धर्महीन शासकों से समस्त वैष्णव समाज का अनुरोध

भारत जवसे स्वतन्त्र हुआ है तभी से भारतीय धर्म को राजनीतिज्ञों ने अपने आक्षेपों का लक्ष्य वनाया है, और विना सोचे समझे राजनेता धर्म को वदनाम करने पर तुले हुए हैं ।

जिनमें आधुनिक वुद्धिजीवियों का योगदान भी आँख मूँदकर सरकार को मिलता रहा, साथ में निहित राजनैतिक पश्चिमी स्वार्थों को भी इनमें प्रवल भूमिका रही है । इधर भारतीय धार्मिक समाज अपने परस्पर रागद्वेष से पीड़ित होकर सनातन दृष्टि से भी एक नहीं हो सका, और अखवार वालों ने भी सदा सर्वदा धर्म को नीचा दिखाने के हर संभव उपाय किये क्योंकि पश्चिमी समाजवाद भी धर्म को हर संभव उपाय से कुचलने का प्रयास

करता रहा है इसमें विशेषरुप से साम्यवादी तत्त्वों की अभिरुचि भारत में रही है । ब्रिटिश शासन काल में भी इसकी जड़ें साम्राज्यवाद की लिप्सा के लिये मजबूत की गई थी जिससे भारतीय जनता अपने धर्म और संस्कृति को हीन समझे और क्रिश्चिनिटी की आड़ में अंग्रेजी साम्राज्य फलता फूलता रहे । बाद में इसका आवेग इतना बढ़ा कि जो कार्य विदेशी शासन में नहीं हो,सका था वह स्वदेशी शासन में कानून और मठ - मन्दिरों को सरकारी अंकुश में लेने की गतिविधि तेज कर दी गई । यह कार्य इसलिये किया था कि राजनेताओं को धर्म या धर्माचार्यो की तरफ से किसी भी प्रकार के विरोध की आशंका न रह जाय इस विषय में कलकत्ता के श्री पुरुषोत्तम हलवासिया ने एक विवरण पत्र छापा था किन्तु धर्माचार्यों की आपसी फूट या अपने बड़प्पन अभिमान ने इस महत्वपूर्ण निवेदन पर ध्यान नहीं देने दिया, और प्रकारान्तर से सरकारी संरक्षण पाने के लिए एवं अपना गौरव सरकार द्वारा बढ़ाने की लालसा से एक दूसरे रूप में सरकारी नीतियों का समर्थन किया परिणाम यह हुआ कि सभी धर्मस्थानों पर सरकारी दबाव बढ़ गया और जनता धर्माचार्यो को या साधुओं को ढ़ोंगी समझने लगी । इस भूमिका की रचना समाजवादी खेमे ने की और जिसमें सरकारी या राजनीतिज्ञों के प्रतिनिधि साधु भी सम्मिलित थे, जिनकी कार्य-प्रणाली जयचन्द जैसी ही थी ।

इस विषय में समाज के फैशनपरस्त पूंजीपति तथा अवसरवादी धनिकों ने भी वर्चस्व के लिये सरकार का ही साथ दिया जिससे कि उनकी स्वार्थ-रक्षा हो सके किन्तु उनके इस रवैये और पश्चिमी आस्था के कारण उनकी संतान एवं युवा पीढी ने अपना रंग शीघ्रता से वदलना आरंभ कर दिया । यह प्रभाव कुछ फैशन के नाम से और कुछ आन्तरिक असन्तोष के कारण अधिक प्रबल हो गया, साथ ही एक समाजवादी युवा प्रतिक्रिया की इस पर गंभीर छाप लग गई, जिसके कारण विकृत रुप से पाश्चात्य संसार भी पीड़ित है और इसका मनोवैज्ञानिक समाधान खोजने की चेष्टा की जा रही है । किन्तु वहाँ भी धार्मिक और नैतिक आस्था से यह समाधान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं हो रहा है । इसी प्रणाली में नए धार्मिक प्रयोग का आरम्भ हुआ जिसमें मौलिकता के स्थान पर अंवसरवादिता और रुचि की विचित्रता तथा नैतिक शिथिलता के कारण लोगों ने उनका अन्धानुकरण करना आरम्भ कर दिया । यह प्रयोग अंग्रेजों के भारतीय सुधारवाद से शुरु हुआ था और आज वह प्रत्येक मत की जड़ में घुन की भाँति लग गया है जो भारतीय धर्म की मौलिकता को ही नष्ट करने जा रहा है । इसका प्रत्यक्ष कारण सदाचार के रूप में न देखकर छुआछूत और घृणा के रूप में देखा जाने लगा । यहाँ यह समझने की किसी को आवश्यकता नहीं रही कि सदाचार विचार और आचरण को पवित्र बनाने के लिए है औरछुआछूत मानसिक द्वेष और घृणा पर आधारित है । यह मौलिक अन्तर राजनैतिक निहित स्वार्थी और तथाकथित प्रगतिवादी या जिन्हें क्रान्तिकारी बनने सनक है, यह समझने का अवकाश किसी को नहीं मिला और इसी को आधार मानकर प्रगतिवाद के नाम पर समाज के नैतिक

शिष्टाचार के मानदण्ड का हनन करना ही श्रेयः साधक लगा, जिसमें हमारे वर्ग विशेष की नैतिक शिथिलता ही मूल कारण थी, जिसे विद्वेष की भावना हटाने के नाम पर एक सामाजिक रूप दिया गया ।

पश्चिमी देशों ने अपने नैतिक पतन को वैध रूप देने के लिये विल पास, करके उसे सामाजिक रूप में स्वीकार कर लिया था, ऐसा ही कुछ उसमें भी दृष्टिगत हो रहा है, यह प्रयोग जो अपने आप में ही निरर्थक प्रमाणित होने लगा है । जैसे-जैसे समाजवाद और प्रजातंत्र का हिलता स्वरूप और अधिनायकवाद का भय बढ़ता जा रहा है तव राजनीति की दृष्टि से विफल होते हुए विभिन्न सिद्धान्तों का मूल जमाने के लिए जो सामाजिक परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की जा रही है उसी का यह स्वरूप है । भारत में धर्म को तथा मौलिक चिन्तन को गलत समझना और क्रान्ति तथा आन्दोलन के नाम पर मासमीडिया को वहकाना ये सभी बातें एक साथ आजमाई जा रही है । इससे हिन्दू संस्कृति या धर्म के अनेक अंग भले ही तोड़ दिए जाए किन्तु यह स्थायी समाधान नहीं सिद्ध होगा । उलटा यह विश्व-विघटन की ओर तेजी से कदम बढ़ाना होगा जिसकी प्रारम्भिक रूपरेखा हिप्पियों के विविध रूप और संस्करणों में देखी जा सकती है । आज हमारी सरकार भी इस वातावरण से प्रभावित है और जनता सुधारवाद की छिछली विचारकता एवं आधुनिक जीवन संघर्ष के समय, युवा मानस से लगा कर प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति इस मास हिस्ट्रीरिया में गड़वड़ा गया है और अपनी ही कमजोरी के कारण भारत के विभिन्न दर्शन और धर्म की व्याख्याओं को भी गलत समझने लगा है । आज का समाजवाद अब एक धर्म का रूप लेने लगा है । ये सभी विसंगतियाँ हमारे सामने स्पष्ट दिखाई देती है फिर भी आज का व्यक्ति राजनैतिक विकृत धारणा की दृष्टि से अपनी धारणा विकृत कर रहा है और वास्तविकता को समझने के स्थान पर स्टन्ट का आश्रय ले रहा है, इसी की एक महत्वपूर्ण कड़ी हमको जतीपुरा के काण्ड से मिलती है । इसकी पृष्ठभूमि में चाहे कुछ भी रही हो, परन्तु यह एक तथ्य है कि आज का प्रत्येक व्यक्ति किसी भी सचाई को सचाई के रूप में नहीं देख रहा है और विगठित धार्मिक समाज को कुचलने के लिए तैयार है । यह अफसरशाही हो या राजनीति, इसके नाम मात्र में अन्तर है किन्तु मूल में कुछ भी अन्तर नहीं है । फासिस्ट के नाम से घृणा करने वाले व्यक्ति भी जनतंत्र के शासक रूप में उसी का प्रयोग कर रहे है । आज सभी राजनेता और समाज के तथाकथित सुधारक धर्म को विकृत करने में जुटे हैं जिससे कालांतर में इस धर्म रूप का नाश भले ही हो जाय, किन्तु इसके स्थान पर कोई मौलिक समाधान इनसे नहीं मिल सकता यह भविष्य निश्चय कर देगा । इसलिए मेरा सभी धर्मानुरागी जनता से और विशेष रूप से वैष्णव जनों से यह दृढ़ अनुरोध है कि आप अपना धार्मिक संगठन सेवा और समर्पण की भावना से सुदृढ़ वनाएँ । जिससे आपकी मौलिकता की रक्षा, आप स्वयं करने में सक्षम वनें, अन्यथा वर्तमान राजनीति और राजनेता शक्ति, संगठन एवं धन की भक्ति करते हैं इसके अतिरिक्त उनका किसी भी व्यक्ति या धर्म

और ईश्वर और ईमान पर कभी भी विश्वास नहीं रहा और रह भी नहीं सकता । "सेक्यूलर" जैसे के भ्रष्ट हाथों, निगाहों से हमें हर तरह से बचाना है और उनका निहित स्वार्थों में कोई गलत प्रयोग न करें यह देखना भी हमारा ही काम है । धार्मिक समाज ही इस कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न कर सकता है सरकार नहीं, इसमें ये लोग नहीं आ सकते कि जो किसी भी प्रकार से राजनीति संवंधी मानसिक विकृति के शिकार हैं । मैं सभी धर्मानुरागी सज्ञनों एवं धर्माचार्य और सांस्कृतिक संस्थाओं से यह आशा करता हूँ कि वे मेरे वक्तव्य पर गम्भीरता से ध्यान देने का कष्ट करें और अपना संगठन सुदृढ़ करें । यह वक्तव्य किसी को उत्तेजित करने अथवा निजी स्वार्थ की दृष्टि से नहीं लिखा गया है परन्तु एक यथार्थ तथ्य ही आपके सामने सद्‌भावना से रखने का प्रयास है । अन्त में भगवान "सभी को धर्म बुद्धि एवं विवेक प्रदान करें" इस प्रार्थना के साथ वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

'श्री वल्लभ स्वर' १५ - ८ -७८

राधा देवी खट्टर से प्राप्त

चक्रवात

जिस अकिंचन समाज को आचार्य श्री और श्री विट्ठलेश्वर ने इतना स्वाभिमान और आत्म गौरव प्रदान किया कि उसके प्रभाव से अकवर के दरबार की रंगीनी समाप्त हो गयी। स्वतंत्र मनीषियों का एक धर्म-कम्यून तैयार हो गया जिसे बादशाहत खरीद नहीं सकती थी, वरन् उसकी कदमबोशी करने में गौरव अनुभव करती थी - वही समाज आज इन वेताज के बादशाह धनिकों की सेवा में सदा सन्नद्ध है । क्या इनसे आचार्य पीठ की गरिमा सुरक्षित रह सकती है । कैसी विचित्र स्थिति है कि आज प्रभु के चरणों को छोड़कर हमारा समाज धनिकों के द्वारों पर भटक रहा है । कृष्ण का सखा सुदामा भव्य मंदिर को देखकर सहम गया था कि दूसरे के घर में प्रवेश कैसे किया जाय । परन्तु यह अभिमानी वर्ग किसी भी मर्यादा को तोड़ कर अंदर जा सकता है ।

आज हमारे आचार्य, विद्वान् सभी पूंजीपतियों का हृदय से वन्दन करते हैं और सोचते हैं इसी की शक्ति से संस्था फलेगी । आज वह सेवक कहाँ जो सबसे कठोर धर्म को भी अपने हृदय की कोमलता से कोमल वना देता है । यही महावाक्य श्रीराम भक्त हनुमान का है । हमारी संस्कृति का वानर इसका विवेक रख सकता है किन्तु ये लंकेश यह विवेक नहीं रख सकते । ये तो कुवेर की अलका और उसकी अस्मत से भी खेल सकते हैं फिर धर्म निष्ठा इनको क्या रोक पायेगी ?

महाप्रभु श्री वल्लभ ने अविश्वास का दृष्टांत लंकेश द्वारा दिया है । लंकेश धर्मशास्त्रवेत्ता और विद्वान् साधक होते हुए भी स्वार्थ के वशीभूत होकर तप का कष्ट सहन

कर सकता है परन्तु ब्रह्मपाश में उसकी तनिक भी निष्ठा नहीं है । आज के धर्म-विश्वास की भी यही दुर्गति है । आज का उपासक भी मृत्यु से बचने या अन्य स्वार्थ सिद्धि के लिए भक्ति कर सकता है परन्तु अहैतुक स्नेह समर्पण नहीं कर सकता है, भगवद् सेवा के लिए शरीर भिगोना उसे नागवार गुजरता है । उसकी दृष्टि में सभी आचार-विचार रिजिडिटी (संकीर्णता) है । इसके बावजूद अपने सुख के लिए पूरी तरह से रिजिड है । कैसा विरोधाभास है । कैसा उपहास है जीवन का ।

कैसा है अद्यतन मूल्यांकन । जिसमें मान का नहीं नैतिकता का नहीं केवल रुपये और रूप का मूल्य है । मनुष्य तो राजनैतिक मशीन में पिसने वाला एक कीड़ा है । एक क्षण का विश्वास या सन्तोष नहीं । इनकी प्रगति बुद्धि की दुर्गति की सूचक है । कितना अंतर है उस समर्पित गरिमामय भक्त और आज के विकाऊ बुद्धिजीवी में । दोनों विद्वान् दो युग के प्रतीक हैं । एक हैं सामन्तशाही में गुलामी से मुक्त निर्भय व्यक्तित्व और दूसरा स्वतंत्र होकर भी चिन्तन और विचारों का क्रीतदास । आज का बुद्धिजीवी प्रतिभा वेचता है परन्तु भारत का वेदवेत्ता वेद नहीं बेचता । धर्मविद् धर्म नहीं वेचता ।

एक समय था जव वैष्णव को, चाहे वह गरीब ही क्यों न हो, प्रसाद लेने के लिए आमंत्रित करना पड़ता था और प्रसाद या भोजन ग्रहण करने के बाद भी आदर पूर्वक द्वार तक छोड़ने जाना पड़ता था । इसके विपरीत आज फटकार खाकर भी खाना खाने जाते हैं । रोटियों के वदले सब कुछ बेचते हैं । साधन के क्रीतदास हैं । आज मशीन मानव से मूल्यवान है, धर्म या भगवान नहीं ।

श्री विट्ठलेश्वर के समय साधन की कीमत प्राणों से अधिक धार्मिक क्षेत्र में नहीं थी, परन्तु आज साधनों की कीमत के आगे मनुष्य के प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं है । ऐसी परिस्थिति में वैचारिक स्वातन्त्र्य एवं नैतिकता का प्रश्न ही कहाँ उठता है । श्री विट्ठलेश्वर जैसे महान् आचार्य ही यह समझ सकते हैं और हृदय से स्वीकार कर सकते हैं कि साधन तो फिर भी वन सकता है परन्तु प्राण वापस नहीं आ सकते । परन्तु यहाँ तो आदर्श या सिद्धांत तो क्या प्राण भी जाय तब भी साध्य को छोड़कर साधन की सर्वोपरि व्यवस्था की गरिमा वढ़ती है ।

कैसा है आज की गरीबी का सम्मान ? कैसी अनोखी है गरीब नवाजी ? जिससे हर क्षण में उसकी गैरत उभरती हो फिर उस वैष्णवता की कल्पना और आदर्श की कीमत ही क्या ? कुछ भी तो रिटर्न नहीं मिलता तव क्यों समय वर्वाद करें ? यह है आज की आजादी का नक्शा । लामजहवी (धर्म-निरपेक्ष) फितूर जिसकी फितरती करामात ने सवको मात कर दिया है ।

"वोले जात न वैन विवशता कर्म की" एक गरीव और अकिंचन भक्त का अन्तर इससे स्पष्ट हो जाता है । गरीव की दशा ऐसी स्थिति में अपने आत्मसम्मान को खोकर, अधीरता से, हीन स्थिति पर पहुंच जाती है । वह कुछ भी करने पर विवश हो जाता है।

ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के दूषित या कैसे भी साधन से उसे शरीर सुख मिल जाय तव वह अपना सम्पूर्ण विवेक खोकर जिस दिशा की ओर प्रवृत्त होगा, उसकी झलक समाजवादी कार्यक्रम में दृष्टिगत होती है । मार्क्स की वैचारिक असम्बद्धता एवं प्रत्येक क्षेत्र में राज्यसत्ता का प्रवेश यही सिद्ध करते हैं । यह एक उद्दाम विचारों का उन्मुक्त प्रवन्ध है जिसकी प्रक्रिया का कोई गम्भीर आदर्श नहीं है । हो भी क्यों ? जव पेट भरने और वासनापूर्ति के साधन मनुष्य को मिल जाय तो गहन विचार और विवेक तो कोई विरला व्यक्ति ही करेगा । यह ऐसी मस्तिष्क की दासता है जिससे कट्टरपंथी राजनीति भी जाहिल धर्म का प्रतीक वन जाती है ।

आज ऐसी ही स्थिति हमारे धार्मिक क्षेत्र की है जहाँ सारे मानदण्ड अविचार से तोड़े जा रहे हैं । ठीक यही स्थिति हमारे देश की राजनीति पर भी लागू होती है । चाहे जो कुछ भी हो धर्म ने विचार क्षेत्र को, तार्किक क्षेत्र द्वारा आश्रय अवश्य दिया है, जिसके परिणाम स्वरूप चिन्तन के अनेक पक्ष साकार हुए हैं । परन्तु जिस प्रकार की राजनीति धर्म-स्वातन्त्र्य के नाम पर धर्म को कुचल रही है, उसी प्रकार धार्मिक लोग भी धर्म को अपने आचार-विचार द्वारा नोचने खसोटने में लगे हुए हैं । धर्मानुशासन के नाम पर ऐसे नैतिक अनुशासन के नाम पर नैतिक अनुशासन भंग का यह अनोखा उदाहरण है । जहाँ हिन्दू एवं अन्य भारतीय जो अपने आपको धर्म का समर्थक कहते हैं धर्म की निन्दा तो करते हैं परन्तु आचरण करना उन्हें पसन्द नहीं ।

आज जितनी धार्मिक प्रदर्शनियाँ लगाई जा रही है या जैसा प्रचार किया जा रहा है, उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस विचार सारणि का मूल आधार क्रिश्चियनिटी है । जहाँ धर्म एवं दर्शन में परस्पर तीव्र विरोध है, जैसा कि आज के सोचने और आचरण से साफ हो जाता है ।

श्री वल्लभ-स्वर अक्टूबर १६६०

देह का भी अपना धर्म होता है

हमारे शरीर में सात धातु है जिन्हें मल के रूप में भी माना गया है । इनकी विकृति पर ही शरीर का स्वास्थ्य निर्भर करता है । यदि ये शुद्ध है तो शरीर निरोगी होता है और इसके दूषित होने पर विकृत होता है । इस प्रकार रोग का परिणाम केवल शरीर पर ही नहीं विचारों पर भी होता है । हमारा शरीर-मल शक्ति भी देता है और विनाश भी करता है यदि उसका मलाँश वाहर न निकले । इसलिए सभी चिकित्सक मल शुद्धि पर पहले ध्यान देते हैं । इसे सभी रोगों का कारण माना गया है । आयुर्वेद यह स्पष्ट ही कहता है कि "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपितामला:" सभी रोगों का कारण कुपित मल ही है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि जब भी चिकित्सक कोई इलाज करता हो तो उसको सबसे पहले मल शुद्धि करना आवश्यक है । आजकल नेचरोपैथी भी आयुर्वेद की भांति पंचकर्म कराती है । इसी तरह शरीर शुद्धि स्त्री जाति की रजोधर्म के समय होती है । रजस्राव के समय सावधानी रखना जरूरी है । क्योंकि इसका प्रभाव दूरगामी होता है और सन्तान पर भी पड़ सकता है ।

प्राकृतिक रूप से हमारे शरीर का सम्बन्ध सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों से जुड़ा हुआ है। इनका प्रभाव स्त्री के मासिक धर्म पर भी होता है । चन्द्र की बढ़ती और घटती कलाओं के आधार से स्त्री की सात धातुओं का सम्बन्ध है । इस प्रकार एक मास या अट्ठाइस दिन में ही रजोदर्शन होता है । गर्भाशय की शुद्धि के समय उस पर किसी प्रकार का जोर नहीं पड़ना चाहिए । यदि इसका ध्यान नहीं रखा जाता तो मानसिक विकार और शारीरिक विकार होने की पूर्ण संभावना रहती है । इसे शास्त्रों में अग्निस्नान भी कहा है । आचार्य श्री वल्लभ ने अपने ग्रन्थ में यह दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार मल का त्याग करके शेष भाग को शरीर ग्रहण करता है, उसी प्रकार सदाचार के द्वारा मानसिक और शारीरिक मल का त्याग करने का विधान है । आयुर्वेद के मत में मल में शक्ति देने और विनाश की दोनों ही सामर्थ्य हैं । विज्ञान भी वेस्टमेटर का महत्व स्वीकार करता है । किन्तु उसे सदाचार से सम्बद्ध नहीं करता । सदाचार के साथ हमारी श्रद्धा का सम्बन्ध है अतः उसका विचार घृणा पर आधारित नहीं कहा जा सकता । चन्द्रमा के साथ मानव का ही नहीं समुद्र और वनस्पतियों का भी गहरा सम्बन्ध है । इसलिए 'सोम' को वेदों में वनस्पति का राजा माना जाता है और वैचारिक क्षेत्र में भी इसका प्रभाव है ।

क्योंकि 'चन्द्रमा मनसो जात' इस श्रुति वाक्य के अनुसार मन से भी सम्पूर्ण सम्बन्ध रखता है । ऐसे ज्योतिशास्त्र में सूर्य आत्मकारक है । श्रुति कहती है-

'सूर्यआत्मात्मा जगततस्थुषश्च' इसी से जगत् का प्रसव या उत्पत्ति हुई है । ज्योतिष में वराहमिहिर ने तो मासिकस्राव से चन्द्रमा का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से कहा ही है । अब आज के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक भी इसे मानने लगे हैं फिर भी उनमें धार्मिक दृष्टि से गहन विचार करने की वृत्ति नहीं हो सकती है ।

जब जड़ नक्षत्रों को मानने वाले इस जड़ता का सम्बन्ध मानव से स्वीकार करते हैं तब भारतीय शुद्धचेतना का सम्बन्ध हमारे आचार और विचारों से क्यों नहीं हो सकता ? और यह कभी सम्भव नहीं होगा कि सभी मानव वैज्ञानिक या तत्वदृष्टा बन जायें ? यदि ऐसा होता तो इस प्रकार समाज की दुर्गति होती ही नहीं । प्राचीन मान्यता 'असूर्यम् पश्या राजदारा' केवल रानी के लिए ही नहीं है । ऐसा विधान सभी स्त्रियों के लिए रजस्वला होने पर है ।

यदि हम नारी जाति का कल्याण ही चाहते हैं तो उसे इन सभी आपदाओं से मुक्त रखना होगा और गर्भजनन के समय जैसे उसे छुट्टी मिलती है, ऐसे ही उसे आराम करने

देना चाहिए । किन्तु पुरुष को चार दिन भी सदाचार के पालन के लिए भारत में काम करना भारी पड़ता है । वाह रे पुरुष तेरी वलिहारी है । विलायत में तो पुरुष को भी स्त्री का दास की भांति विचार करना पड़ता है । फिर यहां नारी स्वतंत्रता के पक्षधर इस पर विचार क्यों नहीं करते । सभी वातें या अपनी कमजोरी धर्म पर थोपते तो शर्म नहीं आती किन्तु शर्म करने जैसी वातों का समर्थन करते हैं, यह समझ में नहीं आता । क्या यह पश्चिमी विचारों के आधार पर नारियों पर अत्याचार नहीं है या इसे गुलामी नहीं कहा जा सकता । ऐसी ही अन्य वातें हैं जिनका विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना उचित नहीं है ।

धार्मिक दृष्टि और खगोलीय दृष्टि पूर्णिमा और अमावस्या दोनों ही पर्व दिन माने गये हैं । संसार में इन दिनों ही पर्व दिन माने गये हैं । संसार में इन दिनों कहीं न कहीं ग्रहण होता है । और ग्रहण का प्रभाव भी मानव और पृथ्वी पर होता है । वैदिक साहित्य में दर्श, पौर्णमास्य यज्ञ इन दिनों होते हैं जिन्हें इष्टि कहा गया है । किन्तु ग्रहण में इष्टि नहीं हो सकती । जब तक वातावरण शुद्ध न हो जाय । क्योंकि इससे वस्तुओं के प्रदूषण से वह हवनीय नही रह सकती । इस प्रकार भोजन और अन्य वातें भी निषिद्ध मानी गयी हैं । किन्तु यह केवल हाइजिन या अन्य प्रकार की मानना और वात है और धार्मिक दृष्टि से स्वीकार करने की भावना अलग है- जिसका प्रभाव हमारे मानसिक स्तर को स्पर्श करता है । यही नहीं इससे आत्मबल भी मिलता है । धार्मिक दृष्टि से यह केवल क्रियामात्र नहीं है । प्रत्येक क्रिया का प्रभाव पवित्र रूप से हम ग्रहण करें यह विवेक भी इसके साथ धर्म शास्त्र में निहित है । इसलिए धार्मिक दृष्टि की विचार परम्परा का अपना अलग अस्तित्व है । उसे समझना और कार्यरूप में परिणत करना इस विषय में जो विधि निषेध है वही धर्म-शास्त्र में गहन विचारों द्वारा वतलाया गया । इसे समझने के लिए एक साधना सतत चिन्तन की अत्यन्त आवश्यकता है । सतही वातों से इसका महत्व नहीं जाना जा सकता है । इसलिए आचार या विचार में परिवर्तन करने के पूर्व गवेषणात्मक विचार और सार्वभौम चिन्तन की अत्यन्त उपयोगिता है । यह कहना भ्रामक है कि किसी चीज का हम पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता तो उसे नहीं मानें । अपरोक्ष प्रभाव तो विज्ञान और खगोल-शास्त्र भी स्वीकार कर रहे हैं । तव धर्म ने भी ऐसा प्रतिपादन किया है तो इससे नाराज होने की क्या वात है । यह तो प्रभाव और कर्म का ही प्रत्यक्ष और परोक्ष दृष्टि से गम्भीर एवं महान् आर्ष चिन्तन है । इसलिए हमारा आचार और विचार क्षेत्र संकुचित नहीं है वह सभी के लिए है ।

वल्लभ सम्प्रदाय में तो यह मेहाधीमर, अलीखान, रसखान, ताजवीवी और मोहना चूहड़ा (हरिजन) पर भी समान रूप से लागू होता है । तव इससे ऐसी जातिवाद की कल्पना करना कैसे उचित है । हां मनमाना धर्म या आचार करना हो तो वात और है । इस विषय में तो यह कहा जा सकता है कि यह तो आप कर ही रहे हैं । फिर पर ही अपने विचारों को जवरदस्ती थोपना क्या जनतंत्रात्मक है ? अतः यह स्पष्ट हो जाता है

कि स्वेच्छाचारी समाज के लिए धर्म का विधान नहीं है । वह तो अनुशासित एवं श्रद्धावान के लिए ही है जिसको आत्म शुद्धि करनी है । आशा है इस विवेचन से आचार पक्ष पर चिन्तन का दृष्टिकोण हमारे स्वजन समझने का प्रयत्न करेंगे । शेष भगवत्कृपा ।

अरी तुम कौन हो री फुलवा बीनन हारी

सांझी याने संध्या वन्दना एक लोक पर्व है । जिसे व्रज में कुमारी कन्याएँ पुष्प चयन करके गोबर की विभिन्न आकृतियां बनाकर उस सांझी को फूलों से सजाकर अपनी सहेलियों से साथ मनाती हैं । विविध प्रकार के सुमन और रंगों की सज्जा में अनेक प्रकार की कला का चित्रण सुहाना एवं शिक्षाप्रद होता है, जिससे कलात्मक ज्ञान के साथ भावनात्मक चित्रण की परम्परा स्पष्ट परिलक्षित होती । सावन की फूली हुई सांझ जैसा वातावरण आश्विन की शरद ऋतु के विविध सुमनों का सरस वातावरण वालकों में सहज की कलात्मक ज्ञान के लिये उपयुक्त होता है । इसी के वाद साझी और टेसू का खेल वालकों में प्रारम्भ होता है । जिसमें दीपोत्सव की पूर्व भूमिका तैयार होती है और सरस्वती शयन से जागरण तक दीप क्रीड़ा द्वारा अज्ञान की निवृत्ति और प्रकाश की आराधना सभी वालक मिलकर करते हैं ।

सांझी के चित्रण के वाद उसका पूजन और उत्तम वर की प्राप्ति की कामना की जाती है जिससे जीवन में उन्नति होती रहे । यह परम्परा वैदिक संध्या आराधना के प्रकार का सामाजिक रूपान्तर है । त्रिकाल विष्णु की आराधना और अग्नि की उपासना का यह मिला जुला स्वरूप है । आचार्य श्री वल्लभ का व्रह्मवाद सभी रूपों में श्रीहरि के दर्शन ही करता है । यही एक भक्त एवं दार्शनिक की हार्दिक भावना होती है । सभी रूपों में अपने परम प्रिय प्रभु को देखना, वही सव रूपों में स्वयं खेलने को प्रकट हो रहा है यह निर्मल दृष्टि ही हमारे जीवन को निर्मल वनाती है । शास्त्रों में यह वाक्य 'पुराण वपि सर्वेषु तन्तद्रू पो हरिस्तथा' ।

सभी पुराणों में उन-उन रूपों मे श्री हरि ही ऐसा स्वरूप धारण करके अभिव्यक्त हुये हैं । इस भावना की सरस अभिव्यक्ति वल्लभ सम्प्रदाय के विविध सेवा प्रकार में भली भांति होती है । जहां भगवान् लोक लीला करके अनेक प्रकार से भक्तों के मन का अपने स्वरूप में स्वयं निरोध करने की कृपा करते हैं । दान, सांझी आदि अनेक लीला उसी का रसात्मक स्वरूप है । दान और सांझी का क्रम दोनों ही एक साथ प्रारम्भ होते हैं इससे यही प्रतीत होता है कि भगवान अपने असीम अनुग्रह से जव तक जीव की समस्त इन्द्रियों पर स्वयं नियन्त्रण नहीं करते, तव तक साधनों से जीवन और इन्द्रियों का निरोध प्रभु में नहीं हो सकता । जैसे प्रपंच में साधन वुद्धि रखने वाले साधन को ही फल मान लेते हैं।

उसी प्रकार बिना कृपा के भगवान् में भी लोक कामना से साधन बुद्धि हो जाती है, जैसे देव पूजन आदि कर्मों में साधन बुद्धि कामना पूर्ति के लिये होती है । इस जीव बुद्धि का दोष भगवान् स्वयं निवृत्त करते हैं । श्रीमद् भागवत में 'कर्हिचिनृप चेष्टया' इस श्लोक में कभी भगवान् अपनी क्रीड़ा में राजा की भांति चेष्टा करते है यह उल्लेख मिलता है । जैसे राजा अपने अधिकार द्वारा दुष्टों का निरोध करता है उसी प्रकार सर्व समर्थ प्रभु स्नेह से भक्त जीवन की वृत्ति का स्वतः निरोध कैसे कर सकता है । इसीलिये तो भक्त कहता है।

'लाल नेक टेको मेरी वहियां, ओघट घाट चढ़्यो नहिं जाई रपटत हों कालिन्दी महियां' प्रभु इन दुरूह घाटों की चढ़ाई मैं चढ़ नहीं सकता मुझे तो आप हीं वांह पकड़ कर चढ़ायेंगे तभी इन घाटों पर मुझसे चढ़ा जायेगा । भक्त की यह भगवद् आश्रयी भावना है । उसका प्रभु सर्वोद्धारक, सर्वरूप एवं सर्वसमर्थ है । यह उसका आत्म विश्वास है ।

सर्वभाव से ब्रजाधिप भगवान् का अनन्याश्रय करने वाले भावुक भक्तों की सभी इन्द्रियों का नियमन भगवान ही करते हैं । जैसे राजा प्रजा का नियमन करता है । यही भगवान् का नृप (राजा) की चेष्टा है । सवके अधिपति भगवान् राजा क्या वनेंगे, वह तो केवल उनकी एक सामान्य चेष्टा से यह कार्य कर सकते हैं ।

जैसे वामन भगवान् ने बलि से दान प्राप्त कर स्वयं उसके आधीन हुये उसी प्रकार व्रज भक्तों से दधि का दान लेकर उनकी समस्त भावना और जीवन के रक्षक प्रभु स्वयं वने और भक्तों की भावना की आधीनता स्वीकार की है । यही दान की विशेषता है । उपनिषद् साहित्य में भी दान की महत्ता स्वीकारी गई है । दान का अर्थ अपने स्वत्व की निवृत्ति और दूसरे के स्वत्व का संपादन है । किन्तु पुष्टि धर्म प्रभु को समर्पण करता है । अतः समर्पण भावना से दान भगवान् के प्रति विविध भावों का समर्पण है । तभी श्री हरिराय जी 'निरखत लीला रसिक जू जहां दान मान की ठौर' इस आशय से पद गान करते हैं ।

सांझी में सविता की उपासना होती है जिसमें पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य का निवेदन किया जाता है । वल्लभ संप्रदाय में कोट की आरती में सूर्य एवं चन्द्र का चित्रण इसी का प्रतीक है । गायत्री भाष्य में आचार्य श्री वल्लभ सवितुः शब्द का अर्थ प्रसवितु ऐसा करते हैं जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई वह रसात्मक ब्रह्म ही सांझी के द्वारा भगवद् भक्तों में भगवद् अनुराग की उत्पत्ति स्वयं करता है । वही कार्य और कारण रूप ही निस्साधन भक्तों के स्नेह का उद्दीपन करता है । साहित्य में पुष्प पराग आदि को उद्दीपन विभाव में माना गया हैं । यहां भगवान् के साथ भक्तों में हृदय सुमन ही भावात्मक पुष्प रूप है । भक्त कवि सूरदास अपने काव्य में इसका सरस वर्णन करते हैं । श्रीमद् वल्लभाचार्य दान, सांझी आदि विविध लीलाओं को भगवत्कृपा निरोध के रूप में वर्णन कर साहित्य शब्द की व्याख्या 'भगवान् के सहित जो भावना है वही साहित्य का अर्थ है । सांझी के पद में

सूरदास जी लिखते हैं-

'अरी तुम कौन हो री वन में फुलवा बीनन हारी'

प्रभु भक्त से पूछते हैं कि तुम कौन हो जो इस वन में फूल बीनने आई हो । यहाँ आश्चर्य का भाव रसवर्धन के लिये है अज्ञान का सूचक नहीं है । आगे के सम्वाद में प्रभु यह प्रकट करते हैं कि यह वन खंड, जिसकी मेरे द्वारा रखवाली होती है और जो मेरा निवास भी है । उसमें तुम पुष्प चयन करने कैसे आ गई ? वस्तुतः भगवान् ही सम्पूर्ण व्रज की रक्षा अपने स्वरूप बल से करते हैं । इसी प्रकार वन सात्विक है । इसलिये भगवत प्रेम और सात्विक भावना की रक्षा भी उनके आशय से ही सम्पन्न होगी क्योंकि ये सभी वनस्पति वैष्णव है । इस प्रकार सूर के भाव उन्हीं के शब्दों में देखिये-

अरी ? तुम कौन होरी फुलवा बीनन हारी'
रतन जटित को बन्यो बगीचा फूल रही फुलवारी ।।१।।
मदन मोहन पिय यों बूझत हैं तू को हे सुकुमारी
ललिता वोली लाल सो यह वृषभानु दुलारी ।।२।।
या बन में हम सदा बसत है हम ही करत रखवारी
विन वूझे तुम फलवा वीनत जोवन मद मतवारी ।।३।।
ललित वचन सुन लाल के सब रीझ रहीं व्रजनारी ।
सूरदास प्रभु रस बस कीने विरह वेदना टारी ।।४।।

जीव का भगवान् से भिन्न होना और ताप की उनके हेतु अनुभूति करना यह सभी आलौकिक भाव प्रभु कृपा से मिलते हैं । सर्वभाव से निस्साधन भक्तों का यही भगवत् सेवन है । जिससे जीवन एवं दृष्टिकोण व्यापक और दोष रहित होता है । यही भक्तों का अनुराग है जिससे वह जीवन, जगत् एवं ब्रह्म की वास्तविकता पहचान सकता है ।

श्रीमती देवीराधानी खट्टर से प्राप्त - 'श्रीवल्लभ स्वर' सितम्बर १९९१

हम कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं

डिब्रूगढ़
दि. २४-५-९३

३१ - मई मास १९९३ की टुडे पत्रिका में एक लेख 'दी मिरेकल ऑफ लव' के शीर्षक से छपा है । उसमें क्रिश्चियन धर्म से व्यापक सेवा कार्य का एक महत्वपूर्ण विवरण प्रकाशित हुवा है । इसमें श्री मदर टेरेसा का चित्र एक रोते बालक को गोद मे लिए हुए प्रकाशित हुआ है । गोहाटी में भी उनके पिछले दिनो आगमन पर एक स्कूल (विद्यालय)

में उनका कार्यक्रम रखा गया था जिसमें उन्होंने बच्चों को वहुत स्नेह से अपनाया ।

मानवीय दृष्टि से यह कार्य अच्छा है और अनुकरणीय भी है । हमारा समाज इससे प्रेरणा ग्रहण करेगा ऐसी आशा करनी चाहिये, किन्तु वह ऐसी मनःस्थिति में नहीं है । हमारे यहाँ अधिक उपदेशक एवं कर्णधार हैं किन्तु उनको अपनी गरिमा बनाने तथा दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं को श्रेष्ठ घोषित करने के अतिरिक्त अपने अस्तित्व को वनाये रखना उचित नहीं लगता । इससे हमारा सामुदायिक वल एवं एकता नष्ट हो रही है । फिर भी हमारी आत्मरक्षा और स्वधर्म सेवा के लिए हम प्रेरित नहीं हो रहे हैं ।

चेतावनी देने वाला समाज का धारक अपने आप में कितना निर्वल और तत्पर है यह समझने की सभी को आवश्यकता है ।

भारतीय परम्परा में सभी जानते और समझते हैं कि हमारे जीवन आस्था तथा धर्म संस्कृति सभी पर निर्मम प्रहार बुद्धिमानी से हो रहे हैं तव भी हम चेतते नहीं हैं और अपने तक ही सीमित वनने में ही हित मान रहे हैं ।

क्या वल्लभ संप्रदाय के कोटि अनुयायी जन और श्रद्धा केन्द्र इस दिशा में आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकते जव कि उनका धर्म ही सेवा और समर्पण की स्नेहमयी उदार भावना पर प्रतिष्ठित है ।

हमारे भारतीय धर्म और संस्कृति की संस्कारी परम्परा बड़ी उज्ज्वल है । यह अपने आप में विविधता लिए हुए समाज को सुव्यवस्थित और कर्तव्यपरायण वनाने में पूरी सशक्त है । 'परन्तु' ? हमने अपनी स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण इसे दूषित वनाने में कमी नहीं रखी है ।

इसी मानसिक प्रदूषण के कारण भारतीय चरित्र की हानि की जा रही है । संस्कारों के पवित्र वन्धन, कर्तव्य के कच्चे धागे को तोड़कर हमारा समाज आर्थिक लोहे की साँकल में अपने आप को वुरी तरह से जकड़ता चला जा रहा है । इससे संस्कार भी संस्कार नहीं रहे और वे आर्थिक वाजार के सौदे बन गये ।

लेन-देन की भावना आत्मकेन्द्रित हो गई है । परिवार में आत्मीयता और कर्तव्य की पावन साँकल की कड़ियाँ टूट गई हैं । मर्यादा को पुराण पन्थी कहने घृणा फैलाने वाले लोग अभी तक ऐसी नई व्यवस्था को जन्म नहीं दे सके हैं जो स्वयं समर्थ होकर स्नेह से सभी को आश्वासन दे सके । यह एक घातक और मर्यादा रहित प्रयोग की अवस्था है । इसमें सभी लोग अन्दर ही अन्दर विकल है । मन में अकेले घुटन का अनुभव करके उद्विग्न हो रहे हैं ।

अर्थवाद के आदर्श पुण्य क्षेत्र स्वच्छता में सुन्दर पूँजीपतियों के आराधना केन्द्र हैं किन्तु उनमें सहजता नहीं रही । अंग्रेजी में वे शुद्ध 'नीट एण्ड क्लीन'. हैं और दर्शनीय भी है । फिर भी अनुकरणीय नहीं हैं । इनमें भीतरी विषमता का विष मन को आकुल

व्याकुल बना रहा है । तब प्रश्न होता है कि 'धर्म कहाँ है' ? । उसे कहाँ देखे, कहाँ समझे और कहाँ सुने ? ऐसा क्यों है ? क्योंकि वह सर्व सुलभ नहीं हो रहा है । इसी से उसे दुर्गम समझा जा रहा है । यह प्रणाली का प्रदूषण है अथवा प्रक्रिया का ? अथवा कर्णधारों का है या काल का प्रवाह है ? जो कुछ भी हो अपने आप में ही स्पष्ट नहीं है तब दूसरों को कैसे साफ और सही समझायेगा ?

उपदेश तो समीप जाकर दिया जाता है । इसलिए उसमें आत्मीयता की आवश्यकता है । आज तो कोलाहल है जिसे कलरव समझा जा रहा है ।

सभी खवरदार होकर बेखवर हो गये हैं । स्वार्थ का इससे सही समन्वय और नहीं हो सकता । आत्म केन्द्रित और परमात्म केन्द्रित होने का यह स्पष्ट अन्तर है । अभी तो विकेन्द्रीकरण का युग है जिसमें हम संगठन की वात कह कर' जीयो और जीने दो' की दुहाई दे रहे हैं ।

कभी वल्लभ संप्रदाय के लोग ही अपने आप कहने लगते हैं कि 'संगठन शव्द कव था' क्या हमारे धर्म में ऐसा था ? । किन्तु प्रश्न है कि नहीं था तब क्या था और कैसा था ? क्या यह विखराव आपको - आपके समाज को- या - परिवार को - या देश को अनुकूल आ रहा है ? इसे आप स्वयं स्वधर्म से या परधर्म से सोचने तथा समझ की समझाने का प्रयास करें तो स्थिति अपने आप साफ हो जायगी । हम कहाँ है ? और क्या कर रहे हैं ।

मैं यह नहीं कहता कि क्या करना चाहिये क्योंकि यह प्रश्न वहुत पीछे उपस्थित होगा । अभी इतना ही सोचना पर्याप्त होगा ।

(प्रेषक - पं. द्वारका प्रसादजी पाटोदिया)

हम यहाँ है !

जूनागढ़ केस के प्रारम्भ और ऐसे ही अन्य विवादों के कारणों पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, किन्तु व्यवस्था के लिए उठाए गये ऐसे विवादों का परिणाम खराव होगा, यह वात एक निश्चित तथ्य वन गई है ।

कारणों पर विचार करने की अपेक्षा विवाद के परिणामों पर यदि सोच समझ कर कदम उठाया जाता तो वल्लभ सम्प्रदाय में सुव्यवस्था और आदर्श के नाम पर आज अनवस्था और अव्यवस्था जैसी गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती ।

श्रद्धा और धर्म के नाम पर नवनिर्मित हवेली-मन्दिर एकत्रीकरण और सामूहिक रूप से प्रदर्शनात्मक तो सिद्ध हुए हैं किन्तु उनसे धर्म प्रचार या आचार शिक्षा के साथ सेवा की

मूल भावना तो शीघ्रता से समाप्त होती जा रही है ।

इसे यदि गहराई से सोचा जाये तो इन्हें केवल एकत्र होने के स्थान और आय के साधन के अतिरिक्त श्री वल्लभ के सिद्धान्त या सेवा प्रकार का प्रशिक्षण केन्द्र भी नहीं कहा जा सकता जहाँ से कोई पावन प्रेरणा प्राप्त कर सके । इस प्रकार व्यवस्था के नाम पर उठाये गए कदमों का हाल यह हुआ कि 'मर्ज वढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की' । फिर भी इन सभी वातों से कोई रास्ता नहीं निकाल सके कि जिससे सभी हिल-मिल के रह सकें और एक साथ काम कर सकें ।

इस प्रकार ऐसे संस्थान अपने आप में निकम्मे सिद्ध होते जा रहे हैं । तथा वहाँ मनमानी भक्ति तथा धर्म का रूप विकसित होने लगा है । खासकर इन्हीं को लेकर विघटन, विसंवाद और विवाद बढ़ रहे हैं । आश्चर्य तो यह है कि इसमें धर्माचार्यों को निमित्त वनाकर एक विचित्र प्रकार ही पनपता जा रहा है ।

यह सोचने की वात है कि इससे धनसंग्रह एवं सुरक्षा तो हो रही है परन्तु धर्म के लिए कोई व्यवस्था इसके द्वारा आज तक नहीं वन पाई । पूँजीपति और प्रवन्धक सुविधा के नाम पर अपने प्रभाव का प्रदर्शन भले ही करलें किन्तु इससे धर्म प्रचार या आचार की अपेक्षा इसलिये नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे कार्यकर्ता और प्रवन्धक धार्मिक सिद्धान्तों के विलकुल जानकार नहीं हैं और दूसरे अर्थो में उनकी ऐसी वातों पर आन्तरिक आस्था या विश्वास भी नहीं है । इसे हम समय का अभाव या दुर्भाग्य ही कहेंगे ।

आज कल की ऐसी वातों के पीछे एक धार्मिक आतंकवाद का उदय हो रहा है । इससे सभी भयभीय और परस्पर विरूद्ध नजर आते हैं । कहीं किसी को परवाह नहीं है, किसी वात की या किसी काम की यह स्थिति साफ होती जा रही है । हम 'परम स्वतंन्त्र न सिर पर कोऊ' जैसे हो गये हैं । वाकी बातें तो वहाना मात्र हैं । नहीं तो कहीं एक साथ समझ कर सोचकर समस्या का समाधान सही स्वरूप में खोजने का प्रयास अवश्य करते । ऐसा प्रयास न तो वैष्णवों ने किया, न आचार्यो ने ही किया । क्योंकि आज सभी में आपसी अविश्वास और अहंभाव अपने चरम पर पहुँचने जा रहा है । इतना ही नहीं यह एक दृढ़ व्यामोह का रूप ले चुका है ।

कभी-कभी ऐसे प्रयास पहले भी हुए थे किन्तु वह सभी विफल रहे । जैसे पहले वैष्णव परिषद् विफल होकर रह गई थी । इसका मुख्य कारण यही था कि धर्माचार्यो का सहयोग उस समय पूर्ण रूप से निरन्तर नहीं मिल सका और न ही इस संस्था को चिरस्थायी वनाने पर गंभीरता से विचार करके कदम उठाये गए । इतना होते हुए भी आज की परिस्थिति से उस समय हालत वहुत अच्छी थी इसलिये इसकी आवश्यकता का उतना अनुभव नहीं हुआ । उस समय जागरूक वैष्णव समाज तात्कालिक ही सही संगठित होकर अपने आचार्यो के महत्व की रक्षा करने में तत्पर था । किन्तु आज तो दोनों ही अपना महत्त्व एवं एकता भूल से गए हैं । इससे चाहे कोई भी व्यवस्था वनी हो उससे स्वधर्म

का उज्वल स्वरूप अपेक्षा कृत साकार नहीं हो सका, न हो रहा है ।

एक वात और भी समझने की है, और वह यह है कि जैसे आजकल भाषा, जाति, प्रान्त आदि की रक्षा के लिए समाज के एक ही वर्ग में आपाधापी शुरू हो गई है । इससे सभी का मानसिक तनाव बढ़ गया है । ऐसे ही धर्म में भी धर्मरक्षकों की आपा-धापी हमारे समुदाय में बढ़ती ही जा रही है । इसे हम विदूषक राजनीति का विचित्र अनुकरण ही कह सकते हैं । धर्मरक्षा या समाज में धर्म प्रचार और व्यवहार का इससे कोई सम्वन्ध नहीं दीखता । इस प्रकार शुरू हुआ हमारी धर्म रक्षा का संघर्ष जो आज आपस में ही अधिक सक्रिय रूप से दिखाई देता है । यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि औरों की दृष्टि में यह कैसा लगता है या इसका क्या रूप है ?

पुराने नाथद्वारा से लेकर जूनागढ़ के विवाद तक अतीत में यदि दृष्टि डालें तो ये सभी विवाद आज तक अपनी विफलता की पताका लहराते दिखाई देते हैं । जिनसे धर्म रक्षा के स्थान पर कुछ और ही हो गया और हो रहा है क्योंकि धर्म-रक्षा एवं धर्म का सम्वन्ध स्नेह, भावना, श्रद्धा एवं त्याग से है । इनसे इसका जरा सा भी नाता नहीं है । यह अतीत का इतिहास हमें विल्लियों की लड़ाई में वन्दर के न्याय की कहानी सुना रहा है । यह एक अपने आप में भविष्य भी वन जाये तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु स्वाभाविक ही इसे कहा जाना चाहिये ।

कुछ वर्ष पहले श्री दीक्षितजी महाराज ने बम्वई समाचार में लेख दिया था । उस समय हमारे समाज में बड़ी हल-चल मची । जैसी आज दिखाई देती है । फिर भी इस हड़कम्प का नतीजा कुछ भी न हुआ, न होना था । हाँ ! एक बात जरूर है कि हमारी वेढंगी रफ्तार वरकरार कायम है जो पहले थी सो अब भी है । क्योंकि सनातन परम्परा जो ठहरी ! उसका लोप कैसे हो सकता ? अगर लोप हो रहा है तो वस हमारा और अपने समाज का है । इस लुका-छिपी के खेल में हम इतने खो गए कि ढूँढ़ना तो क्या खुद को भुला वैठे । क्यों है न यह हमारा तादात्म्य और सह अस्तित्व की सायुज्य मुक्ति की प्रतीक भावना का आधुनिक रूप ।

ऐसे धर्म स्थानों या हवेली मन्दिरों में आपको कहीं भीड़ की धक्कामुक्की या कहीं गपा-गप गप्पों की गोलमाल तो कहीं एकदम खाली शून्य अवकाश में भटके हुए लोग मिलेंगे अथवा सच्ची श्रद्धा से तपे हुए तापस व्यक्तियों के भी दर्शन होंगे, जिनमें वास्तविक निष्ठा है । किन्तु अधिकांश स्थान भीड़, वाली जगह में गोसप के केन्द्र या दिखावटी कार्यक्रम से भरपूर होंगे । अथवा उजाड़ सा वातावरण आपको धर्मप्रचार के नाम पर मिलेगा । इतने पर भी एक वात अवश्य ही श्रवणीय एवं दर्शनीय होगी और वह है निन्दा स्तुति का नित्यक्रम और आपसी हाव भावों में उभरती घृणा एवम् वनावटी वातावरण । यदि एक ही स्थान पर एकत्र असहयोग कहीं देखना हो तो ऐसे स्थल उपयोगी होंगे । जहाँ हमें भटकने की आवश्यकता नहीं है । यह है वर्तमान धार्मिक पुष्टों का उदार रूप

जहाँ सिद्धान्त में भावाद्वैत होने पर भी कहीं मेल ही दिखाई नहीं देता ।

आप सभी सालों में यही कहते सुनते आये हैं कि संगठन की वहुत जरूरत है । एक ऐसी संस्था चाहिये जो अपनी सभी की हो, जिसके द्वारा हम सभी संस्थाओं का निराकरण कर सकें । इन सब वातों के व्याख्याता और हिमायती आज तक ऐसी संस्था वनाने में समर्थ नहीं हुए । जो आये वो भी छोटी-मोटी वातों के नाम पर मतभेद पैदा करके एक अपना दल बनाने की चिन्ता में हैं जैसे आज के राजनैतिक नेता या अभिनेता (एक्टर नहीं) कर रहे हैं ।

कुछ समय पूर्व हमने अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् का एक कार्यकर्ता शिविर देखा । जिसमें मैं तो वीमारी की स्थिति में उपस्थित हुआ था । किन्तु वहाँ लगभग सभी लोग मुझसे भी अधिक अस्वस्थ दिखाई दिये जिनमें सहयोग के नाम पर असहयोग स्पष्ट दिखाई दे रहा था । इसमें भी हम लोगों के अमृतरूपी वचन तो सङ्गठन के नाम पर विघटन की अमी वर्षा कर रहे थे । वस इसी से आप समझ लीजिये कि धर्म की क्या स्थिति हो सकती है । सोचिये कि क्या यह और ऐसा धर्म है क्या ? यह वात हमें सव जगह विन देखे देखने को मिल जायेगी । इसी से हम हमारी खूवी समझ लें तो वहुत कुछ है ।

इस प्रकार डगमगाती नाव की भांति हिचकोले खाती हमारी धार्मिक रक्षा भावना में जव परिषद् का वैन्ड वाजा वन्द सा हो गया तव, पुष्टि सिद्धांत संरक्षण समिति का विगुल (तूणीर) वज उठा । सिद्धान्तों के नाम पर शपथ दिलाने का कार्यक्रम चालू हुआ । इसके साथ ही 'हाथ कटाने हैं या माथा' इस नाम से अपीलें और लेख भी निकले । किन्तु यह सव वहुत देर से हुआ । जवकि हाथ और माथा दोनों ही टूट चुके थे । यह स्थिति तो पहले ही आ चुकी थी । इसलिये यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'ये न जाना कि दुनियाँ से जाता है कोई, वहुत देर की मेहरवाँ आते-आते' । जो कि अस्तित्व का प्रश्न वन गई है । खैर ! कुछ भी हो ये वातें हमारे सम्प्रदाय के अस्तित्व के लिये गम्भीर प्रश्न हो चुकी हैं । इस समय जीतने वाले पक्ष को गर्व भले ही हो किन्तु भविष्य में सभी को अपनी करारी हार का अनुभव हो जायेगा । क्योंकि जिस सम्प्रदाय के नाम पर वो थोथे आदर्श वनाकर लड़े हैं उन्हीं के देखते-देखते उसकी दीवारें गिरती हुई नजर आने लगेंगी। जो कुछ भी उन्होंने स्थापित किया वह कुछ और ही रूप में विकसित होगा । जिसे समझदार धार्मिक सम्प्रदाय या अधर्म की संज्ञा नहीं दे सकेंगे । यूँ होगी इन तथाकथित जीतने वालों की वात 'हो जीतने वाला शर्मिन्दा और हारने वाला नाज करे' ।

आज तक जो भी ट्रस्ट और सम्पत्ति के रक्षण के लिए विवाद हुए अथवा आपसी कलह और व्यवस्था के नाम पर किये गये सभी प्रयत्नों से सम्प्रदाय को हानि हुई है । इससे धार्मिक प्रचार या उन्नति को कोई वल मिला नहीं है । न संरक्षण ही हुआ है । जो मन्दिर (पुष्टिमार्गीय) राज्यों के आधीन हैं उनकी भी दुर्गति साफ दिखाई देती है । और वहाँ अफसरशाही का खुला नाच चल रहा है ।

ट्रस्टों में ट्रस्टियों के वर्चस्व के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु उस स्थान से धर्म को कोई लाभ नहीं हुआ है । ऐसे स्थान भी पहले की अपेक्षा बिगड़ रहे हैं । अभी लोगों में नई चर्चा यह है कि मन्दिर बन्द कराने के बारे में आचार्यगण जो कह रहे है, वह ठीक नहीं है । किन्तु यह हमें समझने की कहीं भूल हो रही है । ऐसा प्रतीत होता है । इस विषय में कभी ऐसा नहीं सोचा गया कि जब सेवा भावना वाले व्यक्ति एवम् जानकार व्यक्ति नहीं बनेंगे तब तक मन्दिरों का सेवा प्रकार चलेगा कैसे ? बाहरी दिखावा तो सेवा नहीं होती । उसके विविध पक्षों की रक्षा एवम् उनका निर्वाह किस प्रकार होगा और उसकी क्या व्यवस्था है ? इतने लम्बे समय तक किसी ने इस प्रकार ध्यान नहीं दिया । तब यह निश्चित सा है कि पुष्टिमार्गीय सेवा प्रकार धीरे-धीरे अपने आप बन्द होने की स्थिति में आ रहे हैं । फिर इस आक्षेप या आलोचना का क्या अर्थ रह जाता है ? क्या कभी किसी ने सम्पूर्ण सेवा प्रकार एवं आचार पर गम्भीर रूप से विचार करके व्यवस्था का तनिक भी कष्ट किया है ?

आज नये-नये मन्दिरों का दौर और फैशन चल रहा है जब कि धार्मिक दृष्टि से आचार्यो को मन्दिर बनाने का अधिकार है, शिष्यों को नहीं । तो दूसरी ओर मन्दिर खण्डहरों में बदलते जा रहे है । जहाँ तक सेवा-आचार का प्रश्न है, वह दोनों ही इन स्थानों से उठते जा रहे हैं या उठ चुके हैं । यह तथ्य है फिर भी इसे स्पष्ट स्वीकारने में न जाने कौन सी हिचक हो रही है । हाँ आपसी बातें निर्विवाद चल रही हैं और चलेंगी। जैसा कि होता आया है । आखिर लोग करें तो क्या करें । बेचारे और कोई कार्यक्रम करने के अभ्यस्त नहीं है । वल्लभ सम्प्रदाय की विविध विधाओं का समावेश सेवा एवं विचार पक्ष में हो जाता है । उसकी रक्षा या उसके अध्ययन, अध्यापन एवम् आचरण को कोई व्यवस्था तो की नहीं जा सकी है । इतना कुछ होते हुए भी यहाँ एकसूत्रता का निरन्तर अभाव होता जा रहा है । श्री वल्लभ मत को किसी एक पक्ष में बाँध कर उसकी रक्षा या अभ्यास पूर्णतः नहीं हो सकता ।

आज जैसी स्थिति देखी जाती है उससे सम्प्रदाय का स्वरूप जिसमें मूलतः पुष्टि सेवा, सदाचार तथा विविध सेवोपयोगी कलाओं का समन्वय है यह सभी पाँच या सात वर्षों में ही जर्जर होकर ढहे खण्डहर जैसी हो जायेगी । आचार्य परम्परा पर प्रभाव पड़ने से सम्प्रदाय का स्वरूप एक विदूषक जैसा होकर रह जायेगा । यह अनुमान आज हम लगायें तो गलत नहीं है ।

लोग सभी अपनी-अपनी पद्धति से अलग-अलग कार्य कर रहे हैं । इसका उचित परिणाम आशा के अनुसार नहीं आयेगा । क्योंकि ऐसे कार्यों में बिखराव के कारण परिणाम का स्वरूप ही बिखर जाता है । इसका फल ही अनवस्था है जो बाद में प्रयत्नों की विफलता जैसी लगती है । और उत्साह तथा लगन को मन्द कर देती है, जिससे निराश होना स्वाभाविक है ।

एकता के प्रयत्न सफल न होने का कारण यह है कि सभी अपने-अपने आग्रह छोड़ने को तब तक तैयार नहीं होते जब तक सब कुछ विगड़ नहीं जाता । जव वाजी हाथ से निकल जाती है तव विचार आता है । जैसा कि हम पारिवारिक या व्यक्तिगत कलह में देखते हैं । जव वो अपने आप में टूट जाते हैं तभी उनको यथार्थ का आभास होता है। इतने पर भी मन में एक शंका रह ही जाती है । मैंने परिषद् के भाषणों में इनसे मिलती-जुलती वातें वहुत बार सुनी हैं । आज की स्थिति इसलिए नई या कल्पनातीत नहीं कह सकते ।

सेवा के सिद्धान्त की चर्चा तो सभी करते हैं किन्तु उसके प्रकार का विशेषता से निन्यानवे प्रतिशण व्यक्ति जानका र नहीं हैं । अतः वाहरी रूप और दर्शनों या मनोरथों की सीमा और सजावट में ही सेवा के स्वरूप को पूरा मान लिया जाता है । इस मान्यता ने भी वहुत क्षति पहुँचाई है । और सम्प्रदाय के समग्र स्वरूप को इससे व्यापक हानि हुई। कितना अच्छा होता कि सेवा की विविधांगी विधि व्यापक स्वरूप को समझ कर उसका जीवन एवं व्यवहार तथा समाज के लिए इसकी महत्ता हम समझ पाते ।

उक्त सभी वातों पर विचार करने पर ही हम समग्र स्थिति को समझ सकेंगे, जिससे एक पक्षीय उपाय सफल नहीं हो सकेंगे, यह सभी जान सकते हैं, किन्तु जानकर अनजान वने रहना यह हमारी विशेषता या लाचारी रही है ।

हमारे यहाँ अतीत के विकसित स्वरूप को किसी ने सही रूप में जानने का प्रयास करना ठीक नहीं समझा । यदि उसे हम दकियानूसी या रिजीडिटी जान के उपेक्षा नहीं करते तो हमारे यहाँ पाठशाला, गौशाला, कला आदि के विविध क्षेत्रों के विद्वान हमसे विछुड़ते नहीं या यह वर्वादी की स्थिति नहीं आती । आज उस स्थिति को लेकर केवल शिकायत रह गई हैं, किन्तु सक्रिय उपाय की सचाई से शोध नहीं की जा सकी है । यह वात नहीं कि आज हमारे सामने जो स्थिति है उसको हम सुधार नहीं सकते । अभी समय है कि हम उसे भली भाँति संवार और सुधार सकते हैं, किन्तु ऐसी संभावना वहुत कम है। कुछ ऐसी भीतरी लाचारियाँ हैं कि जिससे हम कुछ कर पाने में असमर्थ हो रहे हैं । साथ ही प्रयत्नों की विफलता के हम परस्पर ही कारण वने हैं । वाहर के लोगों पर दोष देना गलत है ।

इतनी वातों को जानकर लोग यही पूछेंगे कि हम आलोचना तो कर रहे हैं, उपाय क्यों नहीं वताते ? क्या सभी उपाय निरर्थक हैं ? यदि हैं तो किस आधार पर ऐसा कहा जाता है । इस विषय में हम, निरर्थक होने के कारण, कुछ अंशो में वता चुके हैं जिससे हमारा समाज या हम ही निहित हैं । जहाँ तक न हो सकने की वात है वह ऐसी है कि इस विषय में सुझाव दिये जाने पर भी उन पर अमल नहीं हो सकेगा । यह हमारी आदत की कमजोरी है । फिर दूसरी वात है कि कभी निर्णय हो गया तो उस पर हम कार्य रूप में परिणत करने के लिये सतत ठोस प्रयत्न हम नहीं कर पाते । इस दृष्टि से यहाँ केवल

परिस्थिति के पक्षों पर ही लिखना उचित माना है । समाधान और उपायों के लिये लिखना अभी कोई अर्थ नहीं रखता । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हमें यह विचार करने पर बाध्य होना उसमें सम्प्रदाय को ही धर्म का आधार मानने का आडम्बर करके चुना गया अतः इसके सुस्पष्ट परिणाम हमारे सामने हैं । जहाँ तक धर्माचरण एवं सुरक्षा की बातें हैं वह बेमानी की दिल बहलाने वाली बातें हैं जिनसे कभी-कभी बड़े लोग आदर्श से भी अपना मन बहला लिया करते हैं । इसके अतिरिक्त अभी इसका कुछ मूल्य दिखाई नहीं देता । संभव है कभी यह समाज इस दिशा में श्रीमद् वल्लभाचार्य की परम्परा को सोचने की स्थिति में ठोकरें लगने के बाद सुर्खोरूह होकर सामने आये तभी आम उपाय सिद्ध होंगे।

इस लेख में तो केवल कुछ बदलते पहलू और आयामों का चित्रण ही आपके सामने प्रस्तुत है । विचार करना या नहीं, यह सभी मिलकर चाहें तो सोचने का श्रम करें ।

आक्रमण का शिकार पुष्टिमार्ग

पुष्टिमार्ग पर बहुत अरसे से सुनियोजित आक्रमण होते आ रहे हैं किन्तु आज यह अल्पसंख्यक धार्मिक समाज इतना बिखर गया है कि इसकी रक्षा का उपाय इसके अनुयायी भी सोचने का समय नहीं निकाल पाते और परस्पर आलोचना में ही व्यस्त रहते हैं ।

भूतकाल में इसने संगठित रूप से ऐसी विपत्तियों का सामना क्षमता के साथ किया था किन्तु आज मतभेदों और विवादों ने ऐसा उग्र रूप धारण किया है कि हम अपना ही पतन अपनी आंखों से मूकदर्शक बनकर देख रहे हैं । यह सत्य है कि हमारा समाज शान्तिप्रिय सेवापरायण एवं सहिष्णु रहा है, किन्तु इसकी महान भावनाओं का दुरुपयोग इस प्रकार हो रहा है कि इसमें रहने वाले लोगों का बल, साहस और स्वाभिमान बुझते हुए दीपक की भांति टिमटिमा कर बुझने की तैयारी में है ।

बातों के अभ्यस्त लोग जितनी बातें करते हैं उसका सौवां भाग भी कार्य करने को तैयार नहीं हैं । छोटी-छोटी बातों पर झगड़ना स्वभाव बन गया है और आपस में नीचा दिखाने की प्रवृत्ति तथा मिथ्या आत्माभिमान से अपने आपको संतुष्ट करके सब कुछ मिल गया ऐसा सोचते है जब कि हम सब कुछ खोते जा रहे हैं । अपने अस्तित्व के प्रश्न पर इस प्रकार चुपचाप देखते रहकर, आपस में ही लड़कर अपने आपको बुद्धिमान मानने वाला समाज ऐसा दूसरा देखने को नहीं मिलेगा । यह बेजोड़ मिसाल है ।

अकिंचनों का यह मार्ग कंचनाधिपतियों के पंजे में आकर निकम्मा हो गया है । सर्व त्याग और समर्पण का स्थान किसी और बात ने ले लिया है जो स्वार्थ से ऊपर देखने की दृष्टि ही नहीं देता । लगता है आत्मचेतना लुप्त हो रही है ।

हमको इस स्थिति से उबरना है तो गहरा विचार करना होगा । अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अपनी स्थिति का ज्ञान करें और वाद विवादों को छोड़कर एकता से

आत्मरक्षा करने के लिए आगे बढ़ आज हमको मिलकर ऐसा विचार करना चाहिए । हर व्यक्ति जब अपनी आत्मरक्षा को तत्पर होता है और कमजोरियों से स्वयं लड़ने का संकल्प करता है तो एक दिन वह अवश्य ही बलवान बन जाता है । हमको अब इस दिशा में ही सोचना चाहिए और बातें गौण हैं । धर्म को राजनीति की आवश्यकता नहीं है किन्तु, उसके लोगों को धर्म नीति पर चलना चाहिए । इस अल्प संख्यकों के समुदाय ने यदि अपने धर्म की रक्षा कर ली तो वह आत्म रक्षा से बढ़कर होगा और यह भावी मानव इतिहास को कुछ नए जीवन का वरदान दे सकेगा जिसकी समाज को आवश्यकता है । दलगत एवं प्रान्तीय भावनाओं की दुर्गन्ध हमारे समाज में उत्पन्न न हो यह सदा ध्यान रखना चाहिए ।

भारतीय अन्य अल्पसंख्यक समाज को संरक्षण देने वाले हमारे अल्पसंख्यक समाज का राजनैतिक दुरुपयोग कर रहे हैं । हमारे संप्रदाय के नियम आदि अलग है और उसका दर्शन अलग है । जिसमें पण्डा पुजारी वाद नहीं है । जाति, प्रान्त और देशकाल की सीमा में वँधा हुआ धर्म और समाज उससे हमारी मान्यतायें सर्वथा अलग हैं । हमें अपने आधार से जीवन जीने का अधिकार प्राप्त करने के लिए आत्मवल जुटाना होगा और संघर्ष करना होगा ।

समझ में नहीं आता कि इस स्थिति में भी गद्दियों के लिए हमारे आचार्य लड़ रहे है । जूनागढ़, और काशी के झगड़े फिर अपना उग्ररूप धारण करने जा रहे हैं । यह मन्दिरवाद और गद्दीवाद से श्रीवल्लभाचार्य के मार्ग को वांध देना सर्वथा उचित नहीं है। इसमें प्रभु सुख की भावना एवं सेवा की निष्ठा कहां रह जाती है । अन्य धर्म ईश्वर से मांगता है जवकि हमारे यहां के मानव से ईश्वर मांगता है । इतनी सक्षम और दृढ़ भावना के साथ हम दार्शनिक विचारों से प्रेरित हैं । फिर भी अपने आपको भूल वैठे हैं । विचारें कि ऐसा क्यों कर रहे है और परिणाम क्या होगा ।

विषम परिस्थिति में ऐसा करना विचारक दृष्टि से वहुत ही अनुचित है फिर भी हम अपना औचित्य गलत दिशा में प्रतिपादन करने में जुटकर वलहीन वनने जा रहे है । द्रव्य, शक्ति और विचारों का ऐसा निरर्थक उपयोग किया जा रहा है । क्या इन मन्दिरों की अंधी गुफाओं से निकल कर आचार्य श्रीवल्लभ के दिव्य प्रकाश, पावन दर्शन करने की हमारी क्षमता नष्ट हो गई है । यदि ऐसा है तव किसलिए यह क्लेश और किसकी प्राप्ति के लिए क्या, यह प्रश्न हमारे मन से नहीं उभरता और ऐसा है तो उनके पवित्र विचारों की आड़ लेने की किसी को क्या आवश्यकता है ।

हम वैष्णव हैं, न हिन्दू, न मुसलमान, न ईसाई, न सिख, न किसी जाति के; केवल वैष्णव और समर्पित आत्मा हैं, इसका स्मरण करें । श्री महाप्रभु का परिश्रम हमें विरासत में मिला है उसे अपना कर पुनर्जीवन प्राप्त करें यही निवेदन है ।

-'श्रीवल्लभ स्वर' दिसम्वर - जनवरी १९८८-८९

क्या आपने सोचा है ?

आज वल्लभ संप्रदाय से नियंत्रण उठता जा रहा है । सभी अपनी मनमानी कर रहे हैं । समझ में नहीं आता कि इसका परिणाम क्या होगा । आचार्यों का नियंत्रण कभी का शिथिल हो चुका है । परस्पर रागद्वेष के कारण वैष्णव समाज में भी अनेक फिरके हो गये है । आपसी झगड़ों में ऐसा लगता है कि यादवों की आपसी लड़ाई हो रही है । धर्माचार्यों की अनवन और अपने आपको ऊँचा मानने के कारण प्राचीन परम्परा और सिद्धान्त छोड़कर विरोधाभास वाली आज्ञायें देते हैं जिससे समाज में अव्यवस्था फैल रही है ।

सत्संग मण्डल भगवान् के नाम लेने की बात तो करते हैं किन्तु उनमें धार्मिक बुद्धि के स्थान पर लौकिक विचार ही अलग दिखाई देते हैं । इनके मुखियों ने सभी समाज को छिन्न - भिन्न कर दिया है । किसी का गुण तो याद नहीं रहता, न शरण भावना ही है किन्तु एक बुरी बात को बरसों स्मरण रखते हैं । क्या यह प्रभु के नाम का प्रभाव है? जितना कपट अविश्वास और कलह मैंने वैष्णव समाज में पाया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समाज का उत्थान होगा ऐसी आशा करना निरर्थक है । यदि स्वार्थ की बात होगी तो उसे तुरन्त स्वीकार कर लेंगे किन्तु त्याग या संगठन की बात होगी तो यह उनके वस की बात नहीं है, जो सभी अपने ढंग में चलना चाहते हैं फिर भले ही आदर्शों की होली जलती रहे । हमारे देश एवं सम्प्रदाय में होली जलाने में भी एक आदर्श भावना है जिसमें मन के सभी मैल जला दिये जाते हैं और समाज सभी बुराइयों और वैर को छोड़कर मिलजुल कर फाग मनाता है । किन्तु पुष्टिमार्ग? क्या कहें भगवान् दया करें इन राह भटकों को मार्ग दिखायें। यही कहा जा सकता है ।

महिलाओं की अर्वाचीन समस्याएँ

नारी स्वतंत्रता के नाम पर भारत में जो पश्चिमी देशों का अधांनुसरण किया जा रहा है वह भारतीय संस्कृति के मूल में कुठाराधात है ।

आधुनिकता के समर्थक बुद्धिवादी एवं समाचार पत्रों के लेखक विद्यालयों में अध्ययन करने वाली कन्याओं और तथाकथित प्रगतिशील महिलाओं के साक्षात्कार करके जिन विचारों को प्रकट कर रहें हैं इससे यह आभास मिलता है कि जो भारतीय नारी की महानता और त्याग की भावना का मूल्य हमारे देश में था उसे जान बूझकर अनुचित स्वरूप में प्रस्तुत किया जा रहा है । जिससे कि भारतीय नारी -समाज का नैतिक पतन शीघ्रता से हो । यह एक गंभीर चाल है किन्तु इसे आज के सामाजिक अगुवा और राजनेता समझ कर भी अनजान बन रहे हैं । पत्रकारों की तो वात ही और है जिन्हें राजनैतिक प्रश्नों के अतिरिक्त किसी गंभीर परिणाम पर विचार करने का अभ्यास ही नहीं रहा । गुजराती दैनिक 'संदेश ' हिन्दी पत्रिका 'मनोरमा' आदि में आधुनिक स्त्रियों के जो वक्तव्य और विश्लेषण छपे हैं उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि पश्चिमी नारी जीवन की उद्दाम वासना की विकृतियों से भी इन्हें शिक्षा लेने का अवकाश नहीं है ।

इस पठित अल्ट्रा मोडर्न समाज ने नेपोलियन की वहन पोलन एवं इसी प्रकार की वासना से पीड़ित नारी जीवन की मानसिक एवं शारीरिक विकृतियों पर कभी दृष्टिपात नहीं किया । इसका मूल कारण वासना का भयंकर उत्पीड़न है । यह एक मनौवैज्ञानिक तथ्य के साथ ऐसी स्थिति है जिसमें अपने पर नियंत्रण करना संभव नहीं रहता । और धार्मिक अनास्था के कारण दूसरा उचित समाधान संतोषकारक भौतिकशास्त्र प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है । इसका स्पष्ट प्रमाण आधुनिक पाश्चात्य जीवन और वहाँ की मनःस्थिति है । जिसका सूक्ष्म अध्ययन शांत चित्त से किया जाय तो यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि वहाँ की मानसिक विकृतियों के पीछे यौन स्वेच्छाचरण ही है जिसकी विरासत फ्रायड ने उन्हें प्रदान की है । और आज भी वहाँ का उच्चकोटि का मनोवैज्ञानिक समाज इसमें आस्थावान् है ।

वाल जगत् की विकृतियों से लेकर हिंसा और विविध प्रकार के सामाजिक अपराध में मूलतः स्वच्छन्दता ही कारण रूप है । फिर भी इसका उचित समाधान हमारे देश में हम विज्ञान से चाहते हैं जिसका संवंध चरित्र निर्माण से लेशमात्र नहीं है । भ्रूणहत्या से लेकर पशुता भरा आचरण जहाँ सभी अनुचित वस्तु विज्ञान एवं सभ्यता के नाम पर सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर चुके हैं । उन देशों की समाज रचना और भारतीय संस्कार में विशेष भौगोलिक अंतर है । इसे आज समय रहते हुए हमें समझना चाहिये । जिन देशों में प्रोस (वेश्या) शव्द केवल शव्द कोश की शोभा वढ़ा रहा है और जो देश इसे

वूर्जुआ मानकर नकार चुके हैं उन देशों से प्रेरणा प्राप्त करना प्रगति वाद का भले ही प्रतीक वन जाय ।

फिर भी वहाँ एक सामान्य नारी में मातृत्व के साथ नारी के स्वरूप का ऐसा निखरा हुआ रूप नहीं है जिस पर भारतीय नारी की भाँति श्रद्धा एवं विश्वास किया जा सके एवं जिसके सामने आदर से हम नतमस्तक होते हैं । वहाँ नारी की स्वतंत्रता सभी नैतिक नियमों को समाप्त कर चुकी इतना ही नहीं किन्तु पुरुष और नारी परस्पर विरोधी पंक्ति में खड़े हैं । स्नेह का वहाँ सहज अर्थ क्षणिक वासना की घृणित पूर्ति मात्र रहा गया है । क्या हम गंभीर दृष्टिकोण से देखने और तुलनात्मक मनन करने पर इसे स्वीकार करने की स्थिति में है ? और यदि इसका उत्तर हाँ में है तव इससे शोचनीय स्थिति भारतीय समाज के लिये अन्य कोई भी नहीं है । भारत के तथाकथित उद्योगपति धनिक समाज के प्रगतिवादी व्यक्ति होटल और नृत्यालयों में नारी समाज से, स्वातंत्र्य के नाम पर जो कुछ भी कर रहे हैं उससे विकृत सभ्य पशुता का अन्य प्रदर्शन शेष नहीं रह जाता । क्या धर्म और आदर्श के बन्धनों के प्रति घृणा में मूलभूत यह मनोवृत्ति कार्य नहीं कर रही ? जिससे विवाह जैसे पवित्र संस्कार को संस्था का वन्धन वता कर समाप्त करने की इच्छा प्रदर्शित की जा रही है । और यहाँ की कतिपय नारियाँ इसे उखाड़ फेकने की हीन गर्वोक्ति करने में अपनी महत्ता प्रदर्शित कर रही हैं । व्यवहार और विचार का इससे करुण अन्त का और उदाहरण क्या होगा । इससे यह स्पष्ट होता चला जा रहा है कि हमारा "मास-मीडिया" भी आत्म नियंत्रण खोकर विकृत कामुक हिस्टीरिया का शिकार बन चुका है । और हमारे आदर्शवादी पत्रकार महात्मा गाँधी पर भी कीचड़ उछाल कर अपनी लेखनी से यह वकालत करते हैं कि श्री नेहरू या श्री गाँधी दोनों राजनेता एवं मनुष्य हैं इन्हें देवता नहीं वनाना चाहिये ।

इस मत की आड़ में शायद वे यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य का अर्थ ही अनैतिकता है । फिर ऐसी घटनाओं को उनके निधन के वाद प्रकाशित करके गाँधी जैसे युगपुरूष के साथ श्रद्धा की आड़ में अन्याय किया जा रहा है, इससे आज के बुद्धिवादी क्या करने जा रहे हैं यह हम अनुमान नहीं लगा सकते । और ऐसी स्थिति में क्या हम सभी ऐसे बुद्धिवादियों की बुद्धिवादिता स्वीकार करके समाज की नैतिकता की अन्त्येष्टि करने के वाद सामाजिक नैतिक नियंत्रण का विप्लव खड़ा करने नहीं जा रहे जिसे कानून एवं तलवार भी नहीं रोक सकती, भौतिक विज्ञान की तो वात ही व्यर्थ है । हम यह जानते हैं कि बुद्धि से तर्क इसके पक्ष और विपक्ष में वहुत प्रस्तुत किये जा सकते हैं । न जिससे अतीत और वर्तमान की तुलना लोपामुद्रा की भांति, की जा सकती है जिसकी भूमिका में श्री मुंशी ने कुछ ऐसी ही पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है । फिर भी गंभीर चिन्तन के परिणामस्वरूप इसे संपूर्ण औचित्य का दर्जा नहीं दिया जा सकता । वस इतना कह सकते हैं कि यह एक नैतिक स्खलन है जिसे कभी परिस्थितिवश मानने को मनुष्य वाध्य होता है । किन्तु यह उसकी

भीतरी मान्यता और स्वीकृति का सूचक नहीं है । न इसके उदाहरण विवशता या शिथिलता को सिद्धांत माना जाना उचित है । क्योंकि ऐसा मानने पर भी इसे मनोविज्ञान एवं भावना द्वारा पशुसमाज भी स्वीकार नहीं कर पाता, तब मनुष्य की प्रवुद्धता और अहं इससे कैसे सम्मत होंगे । यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि ऐसे विचारों के प्रचार से समाज को हम क्या दिशा देना चाहते हैं । और इसके परिणामस्वरूप जो समाज बनेगा, उसका चित्रण, सभी स्पष्टरूप से कर दे तो वह अंग्रेजी उसे पढ़कर स्वयं लेखक पत्रकार भी घृणा करने लगेंगे । ऐसे चरित्रचित्रण का प्रभाव युवापीढ़ी और मध्यपीढ़ी पर क्या पड़ रहा है यह राजधानी में घटित वलात्कार की घटनाओं से खुले रूप में स्पष्ट प्रमाणित होता है । यही खुला चित्र पश्चिमी देशों का है जहाँ नारी रात में सुरक्षित नहीं घूम सकती । यह सुरक्षा चरित्र नहीं बलात्कार से है । क्या इसी मानदण्ड के आधार पर मानवतावाद और यथार्थवाद नहीं लाये जा रहे हैं ? यदि ऐसी व्यवस्था हमें भी स्वीकार करनी है, जिसमें लज्ञा नाम की कोई वस्तु हमारे विकृत वासना को न रोक सके । तव इसका दूसरा विकल्प है जो इस उद्दाम प्रवृत्ति पर रोक लगाने में उपादेय क्या होगा । इस विषय में विचार करने पर भी आज वौद्धिक विकल्प टिक नहीं पायेंगे । यह परिस्थिति वैचारिक जगत् में साफ हो चुकी है । और जो इसे नहीं मानते उन्हें साफ समझ लेना ही उचित है । इस विषय में विशेष विवरण निरर्थक है । समझ में नहीं आता कि पशुओं के कुल पर विचार करने वाले घुडदौड़ प्रेमी पूंजीपति मानव कुल पर विचार क्यों नहीं करते ? क्या विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य भी जड़ चेतन पशु (एनीमल) क्षेत्र का प्राणी नहीं है । आज पशु क्षेत्र में भी क्रॉसब्रीड की मान्यता कम हो रही है और अनाज के क्षेत्र में भी यह उतना आदरणीय नहीं रहा । आज पशु क्षेत्र में भी क्रॉस ब्रीड से चालाक पशु टाइगोन पेन्थर (चीता) उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु ईमानदार पशु पैदा नहीं हो पाये, उनके लिये तो निकटतम समजाति और विषम जीन्स ही उत्तम चाहिये । और यही वात मानव संस्कार में भी है ।

किन्तु हमारे भाषा विज्ञान के पंडित सुनीतिकुमार चटर्जी ने तो यवन सभ्यता को भी नजर- अन्दाज कर दिया और राम, सीता को भी भाई बहन तक कह दिया जैसे राम और सीता उन्हीं की मानस सन्तान हो । यह एक आधुनिक वुद्धिवादी विज्ञान का उदाहरण है । आक्षेप नहीं । इसके समर्थन में पशुओं का प्रत्यक्ष मातृगमन भी प्रस्तुत किया जा सकता है । किन्तु क्या मानव समुदाय के लिये यह हितावह सिद्ध होना सम्भव है । इसके दो उत्तर है, हाँ और नहीं । इसमें नहीं यह उत्तर मनन की दृष्टि से उचित है । और स्वीकार करना वासनात्मक विकृति का परिणाम है । इससे शव्द और समाज की पवित्र भावना समाप्त हो जाती है । फिर तो "त्यक्तलज्ञा सुखी भवेत्" मंत्र ही स्वेच्छागामी समाज का आदर्श-वाक्य होगा । इस निर्लज्ञता का उदाहरण अकवर साहव ने यों दिया है "वे पर्दे नजर आई जो कल चन्द वीवियाँ, अकवर जमीं गैरते कौमी से गड़ गया । पूछा गया कि आपका पर्दा कहाँ गया ,कहने लगी कि अक्ल पे मर्दों के पड़ गया" । किन्तु अव वो

भी जमाना नहीं अब तो इस में भी संशोधन करके यह कहना उचित होता कि "अक्ल पै दोनों के पड़ गया" एक वर्ग है जो आज भी इस स्थिति को गम्भीरता से देख रहा है । और दूसरा वर्ग इसे आदर्श वनाने जा रहा है । इससे पहला दकियानूस और दूसरा प्रगतिवादी सुधारक है । पहले के सुधारक जो कि विधवा विवाह की वात करते थे अव वो भी पुराणपन्थी फ्यूडल चीफ जैसे है । अव पर्वत पर चढ़ना गर्व की वात न होकर फिसलना सम्मान का प्रतीक वनना चाहिये । और आधुनिक सुधारकों के शव्दों में इसी से समाज चरम उन्नति कर पाएगा । वस थोड़ा सा भेद मिटा दो, शर्म हटा दो, केवल प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार करने का ही विलम्ब है । इससे अभी सड़क एवं चौराहे वचे हैं किन्तु ये भी न वचे तभी वास्तविकवता का सच्चा वोध होगा ? जो वात प्राकृतिक है उसमें भय या परदा क्यों किया जाय । इन तर्कों के उपरान्त भी यह स्थिति निरापद सिद्ध नहीं होगी । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य आज हम इसे सभ्यता या एटीकेट के आधार से नहीं रोक सकते क्योंकि सभ्यता और शिष्टाचार वदले जा सकते हैं । और उसी दृष्टिकोण से इस तथ्य पर भी विचार किया जा सकता है । इसमें फिर नैतिकता का भी प्रश्न नहीं रहेगा । और धार्मिक मूल्यों को तो हम सर्वथा नकार चुके हैं । धर्म और ईश्वर पश्चिम में समाप्त कर दिये गये हैं और पूर्व में इसके अनुकूल वातावरण वनाया जा रहा है यही अवसरवाद और वातावरण व्यापक है । सिद्धान्तों को मानने की अब कोई आवश्यकता ऐसे समाज को नहीं रही । क्योंकि सिद्धान्तमात्र संकुचित होते हैं । चाहे वह भौतिक विज्ञान के ही क्यों न हो । इसके प्रत्यक्ष उदाहरण अतीत के पश्चिमी इतिहास में पर्याप्त है जिसमें यौन रोग और विकृतियों के चंगुल में वहुत सी नारियाँ समाप्त हो गई है जिनकी करुण मृत्यु पर चिकित्सक भी चिन्तित थे । यह भगवान का असीम अनुग्रह है कि आज हम इन विचारों को प्रकट कर सकते हैं । किन्तु एक समय ऐसा भी आ सकता है जव अमेरिका या रूस की भाँति समाज विरोधी विचारकों को साक्रेटीज की तरह संसार से विदा कर दिया जायगा या उन्हें मानसिक चिकित्सक के पास भेजा जा सकता है। जिसने उनके मस्तिष्क की विकृति दूर की जा सके । इसी प्रकार हमारे विचारक जो राजनैतिक उत्पीड़न से ऐसा ही कुछ व्यवहार कर जाते हैं, और धर्म तथा संस्कृति पर उसी का आरोप करते हैं । उन्हें असहिष्णु वतलाते हैं । किन्तु यह धर्म नहीं राजनीति और आधुनिक समाज शास्त्र है । जो उदार वनने की धुन में प्रतिक्षण ऐसे ही प्रमाण प्रस्तुत करता है। यही आज की मानवता है जो मनुष्य को पीड़ित करती है । और जिसके आधार से मानव सेवा का आदर्श स्थापित किया जा रहा है । यही आधुनिक "हयूमेनिटेरियन" हैं जिनका भूत कालीन स्वरूप क्रिश्चियन धर्म के माध्यम से गोवा में स्पष्ट देखा गया था। जिसका उल्लेख श्री मणिलाल सी. पारेख ने भारत में 'ईसाइयों द्वारा धर्म परिवर्तन' पुस्तक में स्पष्ट किया है । यह ईसा पर आक्षेप नहीं है एक राजनैतिक उदाहरण है । जो आज भी हमारे देश में धार्मिक समाज के सामने उग्र रूप में उपस्थित है । खेद है आज के कुछ

मानववादी धर्म प्रचारक इन पर मनन न करके यह कहने लगे हैं कि फलक के सामने क्या मजहबी बहाना चले चलेंगे हम भी उसी रूख जिधर जमाना चले । इन विचारकों, प्रचारकों एवं प्रगतिवादियों से क्या आशा की जाय यह महत्वपूर्ण प्रश्न है । इस विषय पर भारतीय धर्माचार्यों एवं जनता को सावधानी से सोचना होगा । क्योंकि यदि इनकी आलोचना की गई तो प्रतिक्रियावादी दकियानूसी बनेंगी, और सचाई को सामने न, रख कर अवसर का लाभ उठाया तो मूलतः सिद्धान्त समाप्त हो जायेंगे । फिर धर्म और अधर्म का भेद विचार न करके रसल के सामान नोन-कमिटल थियरी से दार्शनिक बनना होगा । किन्तु क्या यह अवसरवाद भारतीय होगा इसमें सन्देह है ।

इसलिये जो दुर्दशा नारी की नारी स्वातंत्र्य के नाम से हुई है वहीं धर्म की धर्म स्वातंत्र्य से होगी । जिसमें समग्र मानवता एक विशाल अंधकार में भटकती फिरेगी । जिससे स्वतंत्र विचारकों का स्थान अनैतिक स्वेच्छाचारी विचारक सुशोभित करें तो यह आश्चर्यकारक नहीं माना जा सकता क्यों कि सभी विचार विचार के यह भी तो आखिर रही तो है । विचार को परिणाम की सीमा एवं नैतिकता में बांधना तो मूर्खता ही है । यह हमारी आधुनिक तार्किक शैली है जो आखिर तर्क ही है । जिसके आधार पर, आज समाज रचना का प्रयास किया जा रहा है । इससे नारी के समान अधिकारों के प्रतीक हमारे सामने प्रकट होंगे । ध्यान रहे यह लड़ाई अधिकारों की है, योग्यता संबंधी सभी प्रश्न इसमें अस्थाने होंगे । आज तो नये नये युग में अयोग्यों द्वारा योग्यता का चयन होना चाहिये । यही हमारी क्वालिफिकेशन और क्वालिटी है । हम धार्मिक व्यक्ति की भांति नियमों में श्रद्धा नहीं रखते । हम विधान बनाने वाले विधाता है । विधान हमें नहीं बना सकते । हम जब चाहे उसकी पवित्रता को समाप्त करने की घोषणा कर सकते हैं। क्योंकि पवित्रता पुराना संकुचित सांप्रदायिक शब्द है । अब नये अन्दाज सीखो दिल जलाने के लिये समझे ? यह बोध हमने आधुनिक अनुसंधान और युग से प्राप्त करे है । वैसे आप भले इसे व्यग्यं या पैरोडी बता दें चाहे प्रतिक्रियावाद किन्तु यह वाद समाजवाद है जिसे प्राचीन संस्कृति के संकुचित विचारकों ने पशुनी समजो, अन्येषां समाजस्तु सधर्मिणां, कह कर धर्म की आज ये पशु और मानव समाज में वर्ग भेद की नीति का प्रचलन किया था। आज हमने सभी को उखाड़ देना है ।

आज हमें यह भी मान्यता बदल देना चाहिये कि केवल नारी ही माता बने । यह नारी पर अत्याचार है । जब कि पुरानी एटीकेट में पुरंजनी ने भी गर्भाशय धारण किया था तब आज इसे सर्जिकल अनुसंधान द्वारा संभव क्यों नहीं किया जाना चाहिये । चाहे भले ही इनमें बायोलॉजिकल फेक्टर में भिन्नता हो फिर भी जीन्स के द्वारा इसकी संभावना पर पूर्ण विचार करना युक्तिसंगत है । अन्यथा पुरूषों द्वारा किये गये इन अत्याचारों से यौन स्वातंत्र्य के नाम पर भी नारी को मुक्ति नहीं मिलेगी । निरोध या गर्भपात एक सीमा तक ही संभव है । ये हैं आज की समस्या की रूप रेखा और विचार के प्रश्न जिनका

सभी स्तर से विचार हो रहा है और होना शेष है । अब इन कार्यों के लिये अस्पताल मानवसेवा केन्द्र एवं अनुसंधान भवनों का निर्माण होना चाहिये । और विश्वविद्यालय से लेकर प्राथमिक कक्षा तक शिक्षाविदों को इनका एक अभ्यासक्रम निर्धारित करना है । वस्तुतः आज के इन वादों और विवादों का इतना व्यापक रूप हो चुका है कि ये किसी सीमा या आवरण में बंधकर नहीं रह सकते । इसी का प्रतीक वह कैबरे है जिसमें नारी के उन सभी आवरण और बन्धनों को मुक्त किया जाता है । जो इसे अब अश्लील नहीं समझा जा सकता क्योंकि लज्ञा की प्रतीक है । प्रत्येक व्यक्ति जन्म से नंगा है और उसे वैसा ही रहना चाहिये । इसमें नग्नता की क्या बात है । नोरूल नोरेन । यह हमारा लक्ष्य है । अब थियोसोफिस्टों की भी आवश्यकता नहीं एक लेटेस्ट "अद्यतन" बात होनी चाहिये। आज की नारी अब पैरों तले नहीं कुचली जा सकती वह खुद किसी को भी कुचल सकती है प्रतिशोध ले सकती है । अब उसे पुरूष नहीं दबा सकते वह पुरूषों को दबाकर रख देंगी । भले ही आप उसे कोमलता की आड़ में दबाना चाहें । वह अब अपने अधिकारों की माँग करेगी । प्रकृति का यह नियम सर्वथा अनुचित है कि नारी, नारी है और पुरूष, पुरूष है इस विषय में नारी की सहायता के लिये कि नारीवादी पुरूष भी तैयार है । जो मित्र के रूप में उनकी हर प्रकार से सहायता करेंगे । फिर भी मित्रता के नाते उनको कभी भी पुरूषत्व का अधिकार प्राप्त नहीं होगा । एक ओर यह नारी स्वातंत्र्य की क्रांति का स्वरूप है दूसरी ओर कुछ प्रतिक्रियावादी पुरुष हैं जो नारी के सर्वथा परित्याग की ओर अग्रसर हो रहे है । यह स्थिति इंग्लैड, अमरीका आदि विख्यात देशों से साफ हो चुकी है । जिसे आधुनिक विज्ञान एवं विधान दोनों का समर्थन प्राप्त है । इस स्थित और नारी स्वातंत्र्य संग्राम के परिणामों पर यदि विचार करें तो मानव सभ्यता के विनाश के लिये यह एटम बम या हाहड्रोजन बस से भी अधिक भयानक है । जिसको हमारी युवा पीढ़ी और नये विचारक सोचना नहीं चाहते । हम इसे मानसिक वासनात्मक विकृति नहीं कह सकते। क्योंकि यह तो सामान्य वात है कि जिस विकृति को समाज की स्वीकृति प्राप्त हो जाय वह विकृति नहीं संस्कृति वन जाती है । फिर भी यदि इसके परिणाम घातक दृष्टिगत हों तो परिस्थिति के अनुरूप फिर सिद्धान्त बदले जा सकते हैं । यही चेन्जीस की स्वरूप और नूतन प्रक्रिया है । साथ ही परिवर्तन आवश्यक है क्योंकि "साइकल ऑफ ईवेन्टस कुड नेवल वी चेन्ज" यह इसका मौलिक सिद्धान्त एवं निखरा हुआ स्वरूप है, जिसे हम बदल नहीं पाते । यह विवशता नहीं प्रकृति है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है । किन्तु फिर भी संकुचित है, व्यापक नहीं है । इसलिये कभी हमें इसमें भी इंकार करना पड़ेगा । क्योंकि जो भी स्वीकृति पर आधारित है वो सिद्धान्त है वे एवं क्षेत्रीय और पुराण पन्थी हैं । इसलिये हमने धर्म समाज-रूढ़ि की अफीम खानी वन्द करके नई एल.एस.डी. खाना आरंभ कर दिया हैं । यह आधुनिक विचारकों के नये वर्ग की हेरोइन है जो वासनात्मक तरंगों का स्वरूप और चरम अनैतिक एकता का प्रतीक है ऐसे व्यक्ति मद्यपान

को भी दकियानूसी कह कर हेरोइन पदार्थों का सेवन करें तो आश्चर्य नहीं है । जिसे अमेरिका या रूस की सभ्य सरकारें निषिद्ध समझती हैं किन्तु यदि एक समय यह भी उन्हें स्वीकार करना पड़े तो नई बात नहीं होगी । अभी विश्व में पुराने शासक हैं जिससे राष्ट्रसंघ की एक विश्व की एक सरकार वाली घोषणा की पूरी नहीं हुई है । जव ये नारी स्वतंत्रता के सेनानी इस क्षेत्र में भी शीघ्र उतरेंगे तब खंडित नायक जैसे ये संकल्प भी शीघ्र साकार हो जायेगा । आपको इन बातों पर आश्चर्य होगा वैसे होना तो नहीं चाहिये। आप और यह भी कह जा सकते हैं कि धार्मिकता से इसका कोई संबंध नहीं है । ये तो सामाजिक प्रश्न है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म का चिन्तन मानवसमुदाय केलिये ही है । पाषाण युग से विज्ञान के युग तक जिस क्षमता और दूरदर्शिता से धर्म ने मानव समुदाय को विचार एवं विवेक प्रदान किया है ऐसा विवेक आधुनिक विचारक देने में सक्षम सिद्ध नहीं हुए हैं । यह तथ्य आज स्पष्ट देखा जा सकता है । किन्तु यह दृष्टिकोण निष्पक्ष सीधा और भारतीय चिन्तन को यथार्थ रूप में समझने पर ही मिल सकता है । दुराग्रह और उधार के चिन्तन एवं ज्ञान में नहीं । भारतीय धर्म और संस्कृति को समझने के लिये उपयुक्त साधन ही हो । भारतीय साधन उपयुक्त है । इसलिये प्रत्येक तटस्थ व्यक्ति को इस पर विचार करना चाहिये । खास कर सन्तों, सत्संग आश्रमों और गीता मण्डल, धर्माचार्यों एवं धर्म प्रचारकों को यह सोचना है जनता भी इस पर विचार कर सकती है क्योंकि यह परिस्थिति सामान्य रूप से सभी के सामने है । यह वर्ग विशेष का विषय नहीं है । आज कोई भी व्यक्ति इससे अछूता नहीं रह सकता । फिर घोर उदासीन और अवसरवादी व्यक्ति भी इस परिस्थिति से बचना चाहे बच नहीं सकता ।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए हम साधारण बुद्धि से यह समझ सकते हैं कि इस उद्दाम वासना के उत्पीडन और अनैतिकता से बचने के लिये हमे भारतीय धर्म और संस्कृति का गंभीर चिन्तन करना पड़ेगा । जगद्गुरु महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य अपने शोडष ग्रन्थों में इसका रचनात्मक समाधान प्रस्तुत करते है । आचार्य के ये शव्द, विषयावेशदुष्टानां इन्द्रिणां हिताय वै कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्नः ईशस्य योजयेत्" । जव हमारी सभी इन्द्रियाँ विषय एवं वासना के आवेश से दूषित हो गई हों उनको विनाश के पथ से बचाने के लिये "भूमा परब्रह्म श्रीकृष्ण की सेवा में इनका सभी वस्तुओं के साथ विनियोग करना ही कल्याणकारक है" । जो व्यक्ति धर्म और संस्कृति को दुराग्रह से देखते हैं उनको सामने तथ्य दिखाई नहीं देगा । किन्तु जो इन वाक्यों को समझने का प्रयास सचाई से करेंगे और जिनको भगवत्सेवा की गरिमा का ज्ञान है उनको यह सहज समझ में आ जायेगा । इसको और इस स्पष्ट एक अंग्रेजी वाक्य से समझे की "एम्टी माइन्ड इज डेविल्स वर्कशॉप"- खोखला मस्तिष्क शैतानों का कारखाना है । जब व्यक्ति वासना के दुर्दान्त उत्पीडन से पीड़ित होता है उस समय उसका निकम्मा मस्तिष्क जिस भौतिक सुख के सहारे आनन्द प्राप्त करने के साधन जुटाने में लगा होता है तव वह निश्चित ही शैतान बन जाता है ।

आज का भयग्रस्त और निकम्मा समाज जिसके पास खोखले आस्थाहीन आदर्श हैं उसे ऐसे विचार सहज में आ सकते हैं जो क्षणिक वासना के त्रास से शान्ति नहीं दे सकते । इसे उनकी साधन श्रम और आदर्श से प्राप्त करने का विवेक बिना धर्म के नहीं मिल सकता। वर्तमान युग की वासना और भारतीय काम पुरुषार्थ में विवेक और धैर्य के धरातल का स्पष्ट अंतर है । एक के मूल में सन्तोष है दूसरे के अन्दर असन्तोष अपनी चरम सीमा पर अभिव्यक्त होता है । वहाँ भलीभाँति समझा जा सकता है कि सन्तोषमूलक वृत्ति के साथ काम अनुशासन आदर्श एवं आनन्द स्थापित करता है और उद्दाम वासना से व्यक्ति "काम" "जिसे अंग्रेजी में सेक्स का नाम दिया गया है" उत्तेजना, हिन्सा द्वेष और अनैतिक आचरण के द्वारा अनुशासन भंग करता है । पश्चिमी साहित्य का काम केवल वासना या सेक्स है पुरूषार्थ नहीं है । वासनात्मक काम के दुष्परिणाम गीता से स्पष्ट हैं। इसलिये भारतीय विचारक काम और वासना का अन्तर करते हैं । पश्चिम की भाँति उन्हें समान स्तर पर नहीं मानते । विशेष बात तो यह है कि भारतीय धर्म एवं संस्कृति में वासना शब्द का प्रयोग भी दुराचार या अनाचार के रूप में नहीं किया गया है । केवल काम शब्द संकल्प, इच्छा, और वासना के विविध रूपों में विभक्त है । वासना और काम का अन्तर थोड़े शब्दों में इस तरह समझा जा सकता है कि जो कामना के द्वारा मिलनेवाला सुख जड़ वस्तु या जड़चेतन से मिलता है वह काम की वासनात्मक स्थिति है । इसे उचित अनुचित के विवेक से विचार करके नियंत्रण करने पर यह पुरूषार्थ काम बन जाता है । जिसमें विवेक नष्ट नहीं होता मन की वृत्ति पर आदर्श का नियंत्रण रहता है । और वह नियंत्रण श्रद्धा एवं स्नेह पर आधारित होने से अखरता भी नहीं है । किन्तु वासना में (विवेक) का नाश उद्दाम वृत्ति को प्रोत्साहन मिलने से होता है कि जो नियंत्रण जिससे नियंत्रण तोड़ने की मनःस्थिति एवं असहिष्णुता के रूप मडुभर जाती है । यही तथ्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आज के रूढ़ि तोड़क मण्डल और समाज में भी आंशिक रूप से दिखाई देता है । यहाँ श्रद्धा और धर्म के आदर्श इन्हें अखरते हैं । और विना धर्म-श्रद्धा और विवेक, एवं धर्म के ये आदर्श आवश्यकतानुसार बदले जा सकते है । इसलिये यही कारण है कि सामाजिक शिष्टता और नैतिकता का नियंत्रण निरर्थक कभी हो जाता है । धर्म एवं श्रद्धा का सहारा-अनास्था के कारण रूढ़िवाद के भय से लेने में संकोच होता है। और अहंकार को ठेस पहुँचाती है । इसलिये उनको छुवा तक नहीं जाता । इस तरह छुवा-छूत न मानने वाले भी इस पक्ष में उसी धरातल पर आ जाते हैं । यह उनकी आन्तरिक घृणा की उल्टी क्रिया है जो उनको ही पीड़ित करती है । ऐसी पीड़ा की स्थिति में सही सोचने का दावा करना कितना सही है यह आप अनुमान कर सकते हैं । इस प्रकार निकम्मापन और अभावग्रस्त लालच से ललचाये जीवन को विवेक दृष्टि या धार्मिक आदर्श की निष्ठा, रोक नहीं सकती । आत्म नियंत्रण (Self control) की दीवार गिर जाती है । श्रम की प्रतिष्ठा तप और सेवा का ऊँचा धरातल छोड़कर, नीचे उतर आती है । इस दौड़ में सभी श्रम

के अतिरिक्त मूल्य का ऊँचे से ऊँचा मूल्यांकन वासना पूर्ति की दृष्टि से किया जाता है । इन विचारों में राष्ट्रभक्ति की पवित्र भावना भी आहत होती है । एवं यहाँ प्रभु भक्ति की भांति पवित्रता, श्रद्धा एवं समाधि नहीं हो सकती । क्योंकि जो हमें भ्रष्टाचार दिखाई देता है वह निष्ठा से विपरीत है । सेवा एवं भक्ति आनन्ददायिनी है । और आज का यह श्रमदायक है । एक अनुभूति श्रम की कला को भुलाने के लिये ही इसमें सुख है, आनन्द नहीं । और एक सुख सेवा से प्राप्त होता है, उसमें थकान नहीं आनन्द है । इन क्रियाओं में एकरूपता होने पर भी भावना के भेद से फल में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है । जब हमारे मन में भयानक भावों का संचार होता है उस स्थिति में मुख सूखना, पसीना आना, और शरीर काँपने लगता है । ऐसी स्थिति भय के बिना भी उत्तेजना में होती है किन्तु हृदय पर भयानक भावना का प्रभाव एवं वासना के संवेग की प्रतिक्रिया अलग होती है। यह भावना के प्रभाव और फल में अंतर का स्पष्ट उदाहरण है । इसी प्रकार भगवद् भाव एवं धार्मिक श्रद्धा का प्रभाव हमारी मानसिक क्रिया और शरीर पर भी अन्य प्रकार का होता है । सेवा के श्रम में आत्मशक्ति आह्लाद से सन्तुष्ट होकर आनन्द की अनुभूति होती है । वासनामूलक श्रम में थकान और ग्लानि का अनुभव होता है । इसका परिणाम क्रोध क्लान्ति किसी भी रूप में हो सकता है । हृदय की धड़कन दोनों में बढ़ती है किन्तु भय में उसके बन्द होने की संभावना है । और सेवा में श्रद्धा, स्नेह एवं पवित्रता की भावना से सत्व का उद्रेक होने से हृदय का तीव्र स्पन्दन आनन्दकारक होता है । यह थोड़ा सा विवेचन वासना और काम पुरुषार्थ का अन्तर समझने के लिये पर्याप्त है । इसीलिये भारतीय विचारकों ने भोग से रोग की और प्रतिष्ठा नाश की बात कही है जो मानव के, पतन के कारण होते है । साथ ही यह समझना भी आवश्यक है कि धर्म में श्रद्धा प्रधान है और प्रभुसेवा में निष्काम सहज स्नेह की आवश्यकता है । हमारे लोक कल्याण एवं मानववादी चिन्तन में परमार्थ की प्रधानता न होने से देह सुख के विचार एवं स्वार्थ पर आधारित विवेक से अच्छे बुरे का निर्णय भी ठीक नहीं होता ।

इसलिये अपने सुख पर आधारित चिन्तन के द्वारा लोक सेवा, मानवता और यथार्थवाद की प्रेरणा भी उसी रूप में विकृत हो जाती है । यही कारण है आदर्श के नाम पर अनाचार के प्रसार का । इसलिये लोक सेवा और मानववादी विचारधारा चरित्र के निर्माण में विफल होती है । और राजनैतिक या अन्य प्रकार के आदर्शवाद पतनोन्मुख होते हैं । किन्तु प्रभुसेवा में आत्म सन्तोष और भावना की उच्चता स्वतः नियंत्रण की क्षमता हमें प्रदान करते हैं । जैसे माता बालक की भूख प्यास मिटाने के लिये अपने आहार में कमी करके भी खेद के स्थान पर सन्तोष एवं आनंद का अनुभव करती है । श्री वल्लभाचार्य के परवर्ती आचार्य श्री हरिराय जी ने देह के प्रत्येक कर्म को प्रभु सेवोपयोगी बनाने का संकेत इसी हेतु से दिया है । जब मनुष्य की श्रम शक्ति और विचार शक्ति को उचित मार्ग मिल जाता है इस समय वासना के विकृत उद्वेग से व्यथा नहीं होती वे स्वयं शान्त हो

जाते हैं । यह लाभ उन लोगों को ही होगा जो धर्म को धंधा नहीं मानते, जीवन का अंग मानते हैं । प्रलोभन का आधार से या स्वार्थ पीड़ित अभिमान इस भावना में बाधक है । किन्तु श्री वल्लभाचार्य एवं अन्य भारतीय विचारक आचार्य भौतिक स्तर से स्वधर्म का विवेचन नहीं करते यह विशेषता आधुनिक जड़वादी विचारकों की समझ से परे हैं । क्योंकि उनको भौतिक सुख के आधार पर ही सोचने का अभ्यास है । और यदि वे लोकोत्तर विचार को अपने स्तर पर रख के सोचेंगे तो उन विचारों को भी जड़ और विकृत बना देंगे । अतः इन्द्रियों की उत्तेजना को जो श्रम की चेष्टाओं से मनुष्य अभिव्यक्त करता है उसमे भौतिकता का प्रभाव दूसरे प्रकार से व्यक्त होता है । अलौकिक भावना द्वारा विचार प्रकट से होती है और आचरण सदाचार के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति किसी अन्य के भावों का निर्माण करते है । विचार और आचरण का यह संयुक्त रूप सदाचार की सही परिभाषा है । श्रीमद् भागवत में "अक्षण्वतां फलमिदम्" की सुवोधिनी टीका में श्री वल्लभाचार्य इन्द्रियवालों का परम फल क्या है इसका सूक्ष्म विवेचन इसी आधार से करते हैं । क्योंकि वासना के आवेश में इन्द्रियों के सामने प्रभु और आदर्श नहीं होते । अतः वह फलात्मक स्थिति नहीं है । यही कारण ही गीता में भगवान् ने स्पष्ट किया है कि भौतिक काम से क्रोध, सम्मोहन, बुद्धिविभ्रम और नाश होता है । यह क्रम सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं एवं मनोविज्ञान भी दूसरे रूप में इसे स्वीकार करता है । पश्चिमी विद्वानों ने "दिव्य स्नेह और वासना का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि "लव सोल बिटवीन सोल एण्ड पेशन्स बॉडी बिटवीन बॉडी" फिर भी इन विचारकों में व्यावहारिकता होते हुए भी गंभीरता का अभाव है । और यह त्रुटि जड़वादी विचारों की मौलिक है । इस घेरे को वह तोड़ नहीं सकता । क्यों कि जब भी यह परिधि समाप्त होगी जड़वाद अपने आप समाप्त हो जायगा । इसलिये विचारधारा का यह दुराग्रही स्वरूप उनके अस्तित्व का प्रश्न वन जाता है । भक्तिमार्ग में भक्ति का उत्तम उदाहरण वह नारी है जिसकी अनन्य निष्ठा पति में निरन्तर रहती है । और स्नेह से सतत चिन्तन एक स्वाभाविक ध्यान का रूप ले लेता है । यह बात "वकूत्रं ब्रजेशसुतयो" इस श्लोक से भागवत में स्पष्ट की गई है ।

इसी प्रकार प्रपंच में रहकर भक्त का व्यवहार प्रभु के अंश और लीला रूप सभी जीवों एवं जड़चेतन से आदरयुक्त होता है । किन्तु इस आदर एवं अपनत्व में अस्मत वेचना और अनाचार का विधान नहीं है । प्रकारान्तर से इसका समर्थन विचलित मन के उद्वेग से जैसे वाहन टकरा कर चूर हो जाते हैं । उसी प्रकार वासना के आवेग से जीवन की भी दुर्दशा होती है । और दुर्दशा को हम कभी पुरुषार्थ नहीं कह सकते । इसलिये नारी स्वातंत्र्य की भावना का वर्तमान रूप विनाशकारी और द्वेष पर आधारित है । स्मरण रहे कि वेद में "पति पत्नी चाभवत्" वह ब्रह्म स्वयं दो रूपों में विभक्त हुआ और पति पत्नी वन गया ऐसा कहने का तात्पर्य व्यवहार में इतना ही हो सकता है कि नारी और पुरुष

एक ही जीवन के दो पहलू हैं । इनको अधिकार और भेद की वासनात्मक कसौटी पर कसना विपरीत है । फिर भी समस्त विश्व को एक करने वाले ये मानवतावादी राजनेता और आधुनिक विचारक इस बात में भेद क्यों सर्जित करते हैं । क्या यह विरोधाभास नहीं है । हमारे भारतीय इतिहास में नारी का अपना महत्व देख सकते हैं। किन्तु जैसे दशरथजी के साथ श्रीराम की माता कैकयी का रणस्थल में साथ जाना और रानी लक्ष्मीवाई के जौहर, गार्गी एवं मैत्रेयी का वैदुष्य, लंका में त्रिजटा जैसी वुद्धिमति राक्षसी और मन्दोदरी जैसी पतिनिष्ठ नारियाँ भी हैं । किन्तु इन नारियों के आदर्श के स्थान पर आधुनिक नारी स्वतंत्रता का आन्दोलन क्या करेगा इसके वारे में तो इतना ही कहा जा सकता है कि 'न हुई गर मेरे मरने से तसल्ली तो न सही, इस्ताहां और भी वाकी है तो ये भी न सही ।' बस इसे देखते जाना है और इतना ही समझने के लिये पर्याप्त होगा । इस विवेचन से यह समझने के लिये पूरा अवकाश है कि आज का समाज अपनी स्थिति पर फिर से भारतीय दृष्टिकोण से चिन्तन आरम्भ करे तो यह शोभनीय होगा । और हमारी मातृशक्ति को इतना ही निवेदन करुँगा कि इस विषय में उनका दायित्व पुरुषों की अपेक्षा अधिक है । इन मनचले पतियों के साथ शराब पीकर लड़खड़ाने की अपेक्षा उनका बहिष्कार करके धर्मपत्नी का स्वरूप आप ही स्थापित करने में समर्थ है । नगरपत्नी की गरिमा गृहस्वामिनी की तुलना में नगण्य है । यहाँ अधिकार ऊँचनीच और स्वामित्व का प्रश्न नहीं अनुराग का प्रश्न है जिसे संस्कार से पावनता प्रदान की जाती है । जीवन की विविधता अपने आप में सुखद और मौलिक है । किन्तु व्यवहार में एकता विवेक द्वारा ही स्थापित हो सकती है । विवेकहीन ऐक्य से अनाचार को प्रश्रय मिलता है । समानता का स्रजन नहीं होता। सिद्धान्तों का वहुत व्यापक होना भी भ्रमकारक और दोषपूर्ण हो जाता है इन तथ्यों पर विचार करते हुए हमें अपने देश की धार्मिक गौरव गरिमा को फिर से स्थापित करके मनुष्य जीवन को स्वधर्मपरायण बनाने का प्रयास करना उचित होगा ही । अन्त में श्री आचार्य श्री वल्लभ के वाक्य "स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनं इन्द्रियाश्व विनिग्राह सर्वथा न त्यजेत्त्रयम्" । स्वधर्माचरण अपनी शक्ति से करना, विधर्म से निवृत्त होना और इन्द्रियरूपी घोड़ों पर नियंत्रण करना । अन्त में प्रभु से यह प्रार्थना करता हूँ कि सभी को स्वधर्मपालन एवं विवेक की सामर्थ्य प्रदान करें ।

।। सूरदासजी का संगीत पक्ष ।।

भारतीय संगीत पद्धति में वल्लभ संप्रदाय के संगीत की अपनी विशिष्ट शैली एवं परम्परा है ।इसकी स्थापना श्रीमद्वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथजी के द्वारा हुई है । अष्टछाप के कवियों ने जिस शैली में गीतिछन्द की रचना की है, वह वैदिक छन्दगान की पद्धति पर अवलंबित है ।

वैदिक साहित्य में द्विपाद छन्द, त्रिपाद छन्द आदि का उल्लेख मिलता है । उसी आधार पर दो या तीन कड़ी के लघुछन्दों का प्रकार नित्य कीर्तनों में देखा जाता है । जहाँ उत्सव और धम्मार का प्रकरण है वहाँ प्रबंध रचना लीला वर्णनात्मक होने से इसे प्रवन्ध गान कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है । इस गान शैली की अपनी स्वतंत्र पद्धति है, जिसमें स्वरों के श्रुति भेद द्वारा भावाभिव्यंजन होता है । बहुत से संगीतज्ञ ध्रुपद शैली के ध्रुपद शब्द को लेकर ऐसी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार ध्रुव चलता फिरता नहीं है, इससे ही उस छन्दगान की लय में चलत फिरत नहीं होनी चाहिये । किन्तु यह केवल शव्दात्मक व्याख्या मात्र है । जिसका संगीत में कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि विना चलत फिरत के कोई भी लय वन ही नहीं सकती । न ही स्वरों का संचरण संभव है एवं बिना स्वर-लय से संचार के संगीत बन ही नहीं सकता । किन्तु अष्टछाप एवं श्रीसूर के संगीत की मौलिकता इससे भिन्न है । साथ ही इसकी एक विशेषता यह है कि इसे ग्रामीण रूप से या भजन की शैली में भी गाया जा सकता है । इसे ध्रुपद शैली के साथ जोड़ने की वात ही अस्थाने है । क्योंकि ध्रुपद छन्द विशेष का नाम है और उसे अनेक तालों में गाया जा सकता है । उसके चार चरण होने चाहिये या फिर एक ही चरण चार आवृत्ति में पूर्ण होना चाहिये । कीर्तनों में इस परम्परा का अनुसरण मिलता है और ध्रुपद गायकों के बहुत से छन्द अष्टछाप के पदों का ही रूपान्तर हैं । उदाहरण के लिए बिन्दादीन का पद 'निरतत अंग' यह मूल पद श्री सूरदासजी का ही है । उसी प्रकार डागर वन्धु के ध्रुपद छन्दों में प्राचीन छन्द अष्टछाप की कीर्तन प्रणाली में संपूर्ण मिलते हैं एवं उनके पास वे अपूर्ण हैं । ख्याल-गायकी में भी 'मेरा पिय रसिया' नायकी का यह ख्याल जिसे ख्याल कहते हैं , कीर्तन साहित्य का ही पद है । इस प्रकार श्री सूरदास एवं अष्टछाप के पदों की जो विशेषता है वह वर्तमान तथाकथित शास्त्रीय संगीत से नहीं जोड़ी जा सकती । ख्याल गाना पहले मार्गों पर या गावों में तमाशों के समय होता था उसे आलाप के साथ स्वर-प्रस्तार देकर सदारंग आदि ने दरवारों में प्रविष्ट कराया । किन्तु, अष्टछाप की संगीत शैली, जिसकी प्रथम उद्भावना श्रीसूर के पद गान से प्रारम्भ होती है, वैदिक साहित्य के 'उद्गीथ' से ही मिलती है । श्रीमद्भागवत में भी व्रजांगना के गान को श्री शुकदेव 'यासां हरिकथोद्गीत' कह कर परिचय देते हैं क्योंकि, व्रजसीमन्तनी गोपी श्रुति और ॠषिरूपा है । श्रुतियों का ॠषियों द्वारा सामगान की पद्धति से गान को भी उद्गीथ कहते हैं । जिसे छान्दोग्य

।। सूरदासजी का संगीत पक्ष ।।

भारतीय संगीत पद्धति में वल्लभ संप्रदाय के संगीत की अपनी विशिष्ट शैली एवं परम्परा है ।इसकी स्थापना श्रीमद्वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथजी के द्वारा हुई है । अष्टछाप के कवियों ने जिस शैली में गीतिछन्द की रचना की है, वह वैदिक छन्दगान की पद्धति पर अवलंबित है ।

वैदिक साहित्य में द्विपाद छन्द, त्रिपाद छन्द आदि का उल्लेख मिलता है । उसी आधार पर दो या तीन कड़ी के लघुछन्दों का प्रकार नित्य कीर्तनों में देखा जाता है । जहाँ उत्सव और धम्मार का प्रकरण है वहाँ प्रवंध रचना लीला वर्णनात्मक होने से इसे प्रवन्ध गान कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है । इस गान शैली की अपनी स्वतंत्र पद्धति है, जिसमें स्वरों के श्रुति भेद द्वारा भावाभिव्यंजन होता है । बहुत से संगीतज्ञ ध्रुपद शैली के ध्रुपद शब्द को लेकर ऐसी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार ध्रुव चलता फिरता नहीं है, इससे ही उस छन्दगान की लय में चलत फिरत नहीं होनी चाहिये । किन्तु यह केवल शव्दात्मक व्याख्या मात्र है । जिसका संगीत में कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि विना चलत फिरत के कोई भी लय वन ही नहीं सकती । न ही स्वरों का संचरण संभव है एवं बिना स्वर-लय से संचार के संगीत बन ही नहीं सकता । किन्तु अष्टछाप एवं श्रीसूर के संगीत की मौलिकता इससे भिन्न है । साथ ही इसकी एक विशेषता यह है कि इसे ग्रामीण रूप से या भजन की शैली में भी गाया जा सकता है । इसे ध्रुपद शैली के साथ जोड़ने की वात ही अस्थाने है । क्योंकि ध्रुपद छन्द विशेष का नाम है और उसे अनेक तालों में गाया जा सकता है । उसके चार चरण होने चाहिये या फिर एक ही चरण चार आवृत्ति में पूर्ण होना चाहिये । कीर्तनों में इस परम्परा का अनुसरण मिलता है और ध्रुपद गायकों के बहुत से छन्द अष्टछाप के पदों का ही रूपान्तर हैं । उदाहरण के लिए बिन्दादीन का पद 'निरतत अंग' यह मूल पद श्री सूरदासजी का ही है । उसी प्रकार डागर बन्धु के ध्रुपद छन्दों में प्राचीन छन्द अष्टछाप की कीर्तन प्रणाली में संपूर्ण मिलते हैं एवं उनके पास वे अपूर्ण हैं । ख्याल-गायकी में भी 'मेरा पिय रसिया' नायकी का यह ख्याल जिसे ख्याल कहते हैं , कीर्तन साहित्य का ही पद है । इस प्रकार श्री सूरदास एवं अष्टछाप के पदों की जो विशेषता है वह वर्तमान तथाकथित शास्त्रीय संगीत से नहीं जोड़ी जा सकती । ख्याल गाना पहले मार्गों पर या गावों में तमाशों के समय होता था उसे आलाप के साथ स्वर-प्रस्तार देकर सदारंग आदि ने दरवारों में प्रविष्ट कराया । किन्तु, अष्टछाप की संगीत शैली, जिसकी प्रथम उद्भावना श्रीसूर के पद गान से प्रारम्भ होती है, वैदिक साहित्य के 'उद्गीथ' से ही मिलती है । श्रीमद्भागवत में भी ब्रजांगना के गान को श्री शुकदेव 'यासां हरिकथोद्गीत' कह कर परिचय देते हैं क्योंकि, ब्रजसीमन्तनी गोपी श्रुति और ऋषिरूपा है । श्रुतियों का ऋषियों द्वारा सामगान की पद्धति से गान को भी उद्गीथ कहते हैं । जिसे छान्दोग्य

उपनिषद् में भी स्पष्ट देखा जा सकता है । कीर्तन में प्राचीन कीर्तनकार 'हाँ' 'हो' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, यह नाथद्वारा एवं अन्य स्थानों के प्राचीन कीर्तनियों के पद गान में सुना जाता था । वह गन्धर्वों का गान ही है, जिनके द्वारा गान-विद्या का प्रसार हुआ है । कीर्तन शैली में कभी लय पूर्ति के लिये इन अक्षरों का प्रयोग होता है, जहां छन्दों को नृचद् रूप से प्रस्तुत किया गया है । अतः आधुनिक शास्त्रीय संगीत के आधार पर इनका संशोधन सर्वथा उचित नहीं होगा । किन्तु जो राग कीर्तन में कुछ स्वर-भेद से विकृत हैं, उनको व्यवस्थित करना चाहिए एवं छन्दों के तालों पर भी अन्वेषण होना आवश्यक है । अन्यथा विशुद्ध शैली में उचित रूप से शब्दों को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता और सम-विषम मात्रा के तालों में जहां स्वतः अपनी शैली में पूर्ण होता है वहीं उसका निर्धारित ताल होता है । जैसे भुजंगप्रयात छन्द के अनुसरण करने वाले पद झपताल या शूल में ही गेय होते हैं । इसी प्रकार रागों का क्रम भी कीर्तन शैली में ऋतु काल के अनुसार आरम्भ होता है, जिसमें वसन्त राग की आलापचारी की आज्ञा आचार्य से लेने की प्रथा आज भी प्रचलित है,

क्योंकि अष्टछाप की परम्परा में वसन्त को ही राग माना जाता है । मालकोष को राग नहीं माना जाता । षाडव संपूर्ण होने से षडैवर्य युक्त धर्मी स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप इस राग को माना जाता है ।जैसे ऋतुओं में कुसुमाकर को ऋतुराज कहकर प्राथमिकता प्राप्त है । वह भगवदात्मिका है । स्वरों में भी प्रधान स्वर को षड्ज कहते हैं, जिससे छः स्वर, गुण या धर्म उत्पन्न हुए वही प्रधान स्वर है ।

अनाहत नाद में प्रथमनाद प्रणव ही माना जाता है । भागवत दर्शन में इसका 'नादरूपो परो हरिः' ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है । हरि शब्द की व्याख्या में जो ताप-हरण करता है, उसे हरि कहा गया है । संगीत के द्वारा केवल ताप ही हरण नहीं होते किन्तु राग के द्वारा सद्यप्रीति उत्पन्न होती है, इसीलिये राग को 'सद्यःप्रीतिकरो राग' कहा गया है। जिससे तत्काल स्नेह होता है, वही राग है । उसकी रंजकता भक्तों का अनुराग है । जैसे अभिरामनयना गोपियों का अनुराग उस पूर्ण-परब्रह्म में उत्पन्न हुआ था । उस दिव्य अनुराग के मूल में वेणुनाद ही कारण रूप है । साथ ही सृष्टि का आरंभ भी नाद द्वारा ही होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है । वेणु के रंध्र भी छः ही हैं । वेणु शब्द की व्याख्या श्रीमद्वल्लभाचार्य 'वश्च णश्च अणु इति वेणु' इस प्रकार करते हैं । विषयानन्द और ब्रह्मानन्द जहां अणुमात्र प्रतीत होते हैं, वह वेणु है । उसी के द्वारा लीला सृष्टि का नियमन होता है और उस रसात्मक ब्रह्म की दिव्य अनुभूति का माध्यम भी वेणुनाद ही है । जिसके द्वारा भगवद् राग उत्पन्न होता है । श्री सूर के पदों में इसका सरस विवेचन है ।

श्री सूर के संगीत को विशेष मुखरित करने का श्रेय श्री विट्ठलेश प्रभुचरण को जाता है, क्योंकि वे स्वयं अच्छे वीणावादक एवं चित्रकार भी थे । उनका रेखाचित्रण आज भी उपलब्ध है, जो उनके बाल्यकाल की कृति कही जाती है । लीलागान की प्रेरणा श्री महाप्रभु

से प्राप्त करके श्री सूर ने भगवत्सेवा की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह जीवनपर्यन्त किया है। वर्तमान साहित्यकार केवल साहित्यकार हैं । उनको श्री सूर के संगीत के गम्भीर धरातल का अभी परिचय नहीं हुआ है ।साथ ही संगीतकार भी निरे संगीतकार होने से श्री सूर के गेय पदों की गान-शैली को भजनशैली समझ कर उसका यथार्थ गान नहीं कर पाते । इसका मूल कारण ह्स्व, दीर्घ एवं उदात्त और अनुदात्त स्वरों की उत्थानिका को न समझना है और ख्याल (खयाल) शैली में अस्पष्ट-अस्फुट शब्दों के प्रयोग के द्वारा पद भंग का अभ्यास ही बाधक है ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य 'रससमूहो रासः' ऐसी व्युत्पत्ति गायत्री भाष्य में करते हैं । इसके आधार से श्री सूर का संगीत भी स्वरों का रसात्मक स्वरूप ही है, जिसमें वैदिक साहित्य के औद्गात्र प्रयोग ही स्पष्ट होते हैं, जिन्हें वेद के उद्गाता यज्ञ से अवसर पर देवताओं की स्तुति के रूप में गाया करते थे । सेवा भी ब्रह्मयज्ञात्मक है इसलिये उसमें कीर्तन का स्थान महत्वपूर्ण है । श्री सूर एवं अष्टछाप के कवियों में जिस पदशैली की अभिव्यंजना होती है, उसे वैदिक गान के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों की गानशैली को समझे बिंना गाने में कठिनता होगी । इसीलिये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'हमारे ब्रज वानी ही वेद' ऐसा उल्लेख किया है । वर्तमान साहित्यकार इसे केवल श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं अतः उनको इसके गहन अन्वेषण की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई । किन्तु श्री सूर की जन्माष्टमी की वधाई से यदि थोड़ी तुलना करें तो इसका स्पष्टीकरण हो जायगा ।

वेद की ऋचा में 'अजायमानो वहुधा विजायते एषोह देव प्रदिशोनुसर्वा पूर्वोह जात सौगर्भे अन्तः स एव जात सजनिष्यमाण' यह उल्लेख है । गीता में 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' यह श्लोक प्रसिद्ध है । व्यासजी के ब्रह्मसूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्राप्त होता है । इसी प्रकार भागवत में 'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णु सर्व गुहाशय एवं नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः' यह जन्म प्रकरण में स्पष्ट है। इसी आधार पर 'ब्रज भयो महरि के पूत जब यह वात सुनी' यह देवगंधार (देवगान) राग में पद जन्माष्टमी के दिन गाया जाता है । इस प्रकार सूर के संगीत में पदों के साथ प्रस्थान चतुष्टय की संगति भी प्राप्त होती है । श्री सूर के संगीत की विशेषता है कि गायक एवं लोक गायक इसे भली भाँति गा सकते हैं ।

वन्दे विमल हुताशं

सूर्य की किरणें अपराह्न में मद्धिम होने लगीं । तापमान हलका हो गया । यमुना जल की लहरें मलयानिल से अठखेलियां कर रही थीं । पक्षियों का कलरव एवं किसलयों का स्पन्दन हृदय में उल्लास जगा रहा था । ब्रह्मछोंकर से होते हुए महाप्रभु श्री वल्लभ दमला के साथ अमला श्यामला यमुना के तटपर पहुँचे । गोकुल के प्रशांत भक्तिमय वातावरण में भगवान् के गुणगान झंकृत हो रहे थे । भावुक भगवदीयजन श्रीकृष्ण की सरस कथा परस्पर कह रहे थे । जहाँ भी दृष्टि जाती वातावरण में आनंद की उर्मियाँ उमग रही थीं । धीरे-धीरे नेपथ्य से स्वर गूँजने लगा । मानो सुरसमूह देववाणी में परब्रह्म पुरुषोत्तम की नित्यलीला स्थली का ललित स्वरों में गुणगान कर रहा है । 'श्रीमद्गोकुल-सर्वस्वम् श्रीमद्गोकुलमण्डनम् श्रीमद्गोकुलदृक् तारा' महाप्रभु श्री वल्लभ शांत प्रसन्न मुद्रा में मुधर स्वरों में गूँजता, स्तुतिगान सुनते हुए, यमुना के सुरम्य तट पर विचारमग्न मुद्रा में भी दामोदरदास की ओर देखते हुए कहने लगे; "दमला ! देखा कैसा मनोरम स्थान है । जहाँ कोटिकंदर्पलावण्य कृष्ण की क्रीडा - भूमि हो भला वहाँ आनंद नहीं होगा तो और कहाँ होगा ! सम्भवतः इसीलिये श्रुति कहती हैं - 'यदा वै आकाशः आनन्दो न स्यात्' यह श्रीमद् गोकुल तो ऋषिरूपा, श्रुतिरूपा और नित्यसिद्धाओं का हृदयाकाश ही है, जिसमें आनंदकंद कृष्ण के मुखचंद्र की मकरंद का पान करने, मक्षि भृंग गुंजार करते, वन उपवनों में वनमाली की रूपसुधा का पान करके, इन हरी हरी लताओं में 'हरि-हरि' करते रसमग्न घूम रहे थे।

दामोदरदास आचार्य के मुखारविंद की तेजोमय वाणी सुनते हुए अपलक आचार्य को देख रहे थे । उनको ऐसा लगा जैसे सबकुछ अपना है । यही तो वास्तविक निजधाम है । हो सकता है इसीलिये महाप्रभु भावावेश में कुछ गंभीर विचार कर रहे हैं । बहुत समय हो गया किसी स्थान पर विराज कर विश्राम भी तो नहीं किया । सभी सेवक शांत भाव से आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े हैं । किंतु श्री वल्लभ की दृष्टि न जाने क्या खोज रही थी ।

इतने समय से मौन दमला के हृदय में आचार्यश्री के श्रम का विचार बार - बार उभर रहा था । अपना कर्तव्य उन्हें बार-बार प्रेरित करता था कि श्रीचरणों में विराजने की प्रार्थना करूँ । दमला के इन आंतरिक भावों को समझते हुए आचार्यश्री ने कहा - "दमला यह घाट कितने सुंदर हैं ! कितने रमणीय हैं ! जहाँ बरबस ही मन का विरोध होने लगता है । किन्तु मुझे रह रह कर यही विचार आता है कि यहाँ ठकुरानी घाट और गोविन्द घाट दोनों ही समीप हैं । जैसे भगवान् से स्वामिनी अभिन्न हैं । फिर भी यह कैसे जाना जा सकता है कि इसमें कौनसा गोविन्द घाट है और कौनसा ठकुरानी घाट है?

दामोदरदास एक क्षण मौन हो रहे । न जाने आज 'श्रीकृष्णहार्दवित्' महाप्रभु किस अलौकिक लीला - चिन्तन में निमग्न हैं, नहीं तो उनके लिये यह कार्य कठिन हो नहीं सकता। मन में इसी विचार की उधेड़ वुन चल रही थी कि धीरे-धीरे नूपुरों की मधुर ध्वनि एक ओर से आने लगी, मानों अलिगणों की अवलि गुंजार कर रही हो । ऐसी मीठी झंकार की मादकता में एक अनोखी स्वर - लहरी गूँज उठी मानो वीणा के सभी तार सरस स्वरों में झंकार कर उठे - 'महाप्रभु क्या विचार रहे हो' ? अरे यह कैसा स्वर, कैसी दिव्य वाणी, कैसा श्यामल स्वरूप, नखशिख सिंगार किये कर में कमल हार लिये इस नयनाभिराम छवि की छटा तो देखते ही वन आती है । कैसा अनुपम रूप, श्रीकृष्ण की स्वामिनी, श्री यमुना अपनी अहैतुक अनुग्रह की वर्षा करने सन्मुख खड़ी, मन्दस्मित कर रही हैं । आचार्य वल्लभ के उल्लास का पार नहीं था । प्रेम - परवश हो गये । तुर्यप्रिया के दर्शन कर महाप्रभु के आनंदाश्रु छलक गये मानों दो मुक्ताफल स्वाति की विन्दु से मोतियों की लड़ी वना रहे हों स्वामिनी को समर्पण के लिये । अनायास ही दोनों हाथ सहज ही जुड़ जाते हैं जैसे बिछुड़े हुवों को मिलाने का संकेत कर रहे हों ।

श्रीमुखसे सहज स्वरलहरी होती है **'नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा'** पीछे से अनेक स्वर अनुसरण करने लगे **'नमामि यमुनामहं'** । तभी आचार्य मृदुल वाणी में बोले **'नमत कृष्णतुर्य प्रियां'**

सभी शिष्य प्रणाम करते हैं । साष्टांग दंडवत् प्रणाम करते हुए 'जयति पद्मवन्धोः सुता'

तभी आचार्य के अस्फुट स्वर प्रकट हुए - "हे भानुतनया ! आपने मुझे महाप्रभु कहा? ऐसा क्यों ? क्या यह परिहास करके मुझे संकोच में डालना चाहती हैं ?"

तभी श्रीयमुना की स्नेहपूरित वाणी सुनाई दी - ''नहीं, नहीं, वल्लभ, यह व्यंग्य नहीं सत्य है । आप महाप्रभु ही हैं.''

कुछ झिझकते हुए विनम्र शब्दों में आचार्य नमन करते हुए कहते हैं ''देवि ! ऐसा कहना आप की गरिमा के विपरीत है । मुझसे क्या अपराध हुवा ? जिससे आपने ऐसा सम्वोधन किया । मैं तो श्रीकृष्ण का दास हूँ ।''

खिलखिला कर हँसती हुई भानुतनया यमुना ने कहा, - ''नहीं ! वल्लभ आप तो प्रभुके अन्तःकरण का तापनिवारण कर सर्वोद्धारक श्रीकृष्ण से दैवी जीवों का सम्वन्ध कराने को अवतरित हुए हैं, जव आप मेरे प्रिय प्रभु का श्रम निवारण करने यहाँ पधारे तव मेरे लिये तो आप 'महाप्रभु' ही हैं । छोड़िये इस वात को, कहिये आप क्या सोच रहे थे ?"

सभी भगवदीयजन मंत्रमुग्ध से इस अनुपम कल्याणकारी छवि के दर्शनकर सुध - वुध खो बैठे ।

तभी विनीतभाव से श्री वल्लभ ने कहा 'हे मुकुन्दरतिवर्धिनी ! श्री यमुने यहाँ आनेपर

मेरे मन में सहज ही यह विचार आया कि यहाँ दो घाट हैं, जिसमें एक श्री ठकुरानी घाट और एक श्रीगोविंद घाट है ।'' समस्त जीवोंकी संतापहारिणी यमुना आचार्य की यह चिंता कैसे सहन करती ? मंदस्मित से कहने लगीं, इसीलिये तो मैं स्थान बताने आई हूँ - ''जहाँ आप खड़े हैं उस शमीवृक्ष वाला घाट श्री ठकुरानीजी का है क्योंकि रास्ल से यहाँ तक उन्हीं की ललित लीलाभूमि है और आपके स्कंभाग पर गोविंदघाट है, जो महावन से यहाँ तक हमारे प्रिय श्याम श्रीकृष्ण की क्रीड़ा भूमि है । अब आप यहां श्री ठकुरानी घाट पर ही विराजें यही आपके चिंतन के उपयुक्त स्थल है ।''

इतना कहकर श्री यमुना मंद मंद मुस्कराती रुचिर वीचि में तिरोहित हो गई । अनंत आकाश में देवगान होने लगा . . ..

'तवाष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा ।
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुंदे रतिः ।।

आचार्य वाक्पति के मुखकमल से स्तुति का अंतिम चरण निकलने लगा । समस्त सेवकगण अनुसरण करने लगे । कुछ क्षणों की नीरवता भंग हुई और प्रसन्न मुद्रा में आचार्य ने भावभरी वाणी में कहा,- ''दमला ! देखा तुमने, श्री यमुनाजी कैसी उदार एवं कृपालु हैं। हमारे तनिक से चिंतन में ही स्वयं प्रकट होकर कह गई । हम जहाँ खड़े हैं इस शमी तरुवर वाला घाट ही श्री ठकुरानीजी की विहारस्थली है। हम यहाँ ही भागवत-चिंतन करेंगे। और अपनी सहज अनुग्रहपूर्ण तुर्यप्रियाजी को भगवत् - लीला श्रवण करायेंगे । इससे उत्तम और क्या सौभाग्य होगा । श्री दामोदरदास आदि अन्यसेवक श्रीचरणों के दर्शन कर सम्मतिसूचक मौनमन से प्रार्थना कर आवश्यक तैयारी करने लगे । चारों ओर श्री हरि के यश एवं कीर्तनों की स्वर लहरी गूँज रही थी । ब्रजवासिनें सायंकाल श्रीयमुना के दर्शन करने झुंड बनाकर जा रही थीं और मधुर राग 'देखोरी मुकट झोका ले रहो' गाती हरिस्मरण कर रही थीं । वयोवृद्ध ब्रजजन और संतमंडली आचार्य चरणों का स्पर्श एवं दर्शन करने आने लगीं । सभी के मन में आनंद था । आज श्रीमद् गोकुल में नया ही वातावरण था। सभी इस रहस्य से आश्चर्यचकित थे । महाप्रभु द्वारा आज श्री ठकुरानी और गोविंदघाट के वर्णन के साथ ही प्रभु की दिव्य लीला का रसामृत पान करने को मिला था । चारों ओर श्री वल्लभाचार्य का जयघोष होने लगा । सुबह शाम यमुना की स्तुति और मंगल कीर्तनों के प्रभाव से अविद्यानर्तकी निवृत्त हो गई । सभी का अंतर आनंदकंद के अनुराग से रंग गया । धीरे धीरे वातावरण में स्वर उभरने लगा - 'विमल जस गावत चली, ब्रज सुंदरी नदी जमुना के तीर ।' सभी भाव विभोर हो जाते हैं । वातावरण में मंगलमय स्वर उमगने लगा -

'नमामि यमुनामहं सकलसिद्धहेतुं मुदा
मुरारिपदपंकज स्फुरदमंदरेणूत्कटाम्'

एक समय चिंता चित आई, देवी किहि बिध जानी जाई

सावन का महीना चारों ओर हरियाली छाई हुई थी । यमुनातट पर फूलाहुवा वर्ना का पेड़ चारों ओर मकरन्द फैला रहा था । कदम्ब, केतकी कुरबक के कुसुमों से चारों ओर वहार छाई हुई थी ।

धीर समीर से उठती यमुना की लहरें इंद्रधनुषी रंग से उठती उतराती मनोहर सतरंगी आभा से तट के तरुवरों को सुशोभित कर रहीं थी । यमुना के घाट और गोकुल की बाट मणिमय प्रतीत हो रहे थे । सुहाना समय, दिनमणि का रथ, धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहा था । आकाश में ऊदे बादलों के टुकड़े गजराज की भाँति मस्त चाल से इधर-उधर घूम रहे थे । उपवनों की कोटरों में विराम करने विहगावलि उड़ती हुई चली जा रही थी। कमल कोष मुकुलित होने लगे । भ्रमरों का गुंजार ऐसा लगता था मानो वरखा बहार किंकिणी नूपरों का निनाद कर नृत्य कर रही हो । गोप-गोपियों के झुंड गान करते थे 'हरीयारो सावन आयो' । राग से रंजित दिशाओं में शनैः शनैः कहीं बदली की ओट से चन्द्रकिरणें चुपके से झाँक रहीं थी । महाप्रभु श्री वल्लभ ध्यानमग्न आधे मुँदे नयनों से श्री यमुना की शोभा को निहार रहे थे । ऐसे उत्साहमय वातावरण में महाप्रभु का मौन सभी शिष्यों की चिंता का कारण वना हुआ था । आखिर दामोदरदास से नहीं रहा गया और पूछ ही लिया -

"महाराज आज श्रीचरण कुछ चिन्तित हैं । जो समस्त संसार को निश्चिंत करने वाले स्वानन्दनिमग्न आचार्य को आज कौनसी चिन्ता सता रही है । या महाप्रभु किसी ललित लीला का चिन्तन कर रहे हैं ? यदि कुछ सेवक के योग्य सेवा हो तो आज्ञा करें? आपकी आतुरता हमें उद्वेलित कर रही है । ऐसे आशामय अवसर पर यह मौन कैसा?

आचार्यश्री वल्लभ मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मधुर वचनो में कहने लगे ।

"दमला तुम तो जानते हो कि मुझे दैवी जीवों को प्रभु के सन्मुख करने की भगवद् - आज्ञा हुई है । सर्वोद्धारक श्रीकृष्ण की इस आज्ञा का कैसे पालन किया जाय यही मेरे अंतर में रह रह कर प्रश्न उठ रहा है । भगवान् सर्वथा निर्दोष जीवों को ही अंगीकार करें यह मेरी हार्दिक भावना है । अन्यथा निर्दुष्ट ब्रह्म के साथ स्वभावगत दोषी जीव का संवंध कैसे हो सकता है ? क्या इस प्रकार उन्हें श्रमित नहीं होना पड़ेगा ? फिर इतनी विशाल सृष्टि में कौन दैवी और कौन आसुरी हैं इसके विषय में निरंतर चिन्तन करने से क्या कभी प्रभुलीला का चिन्तन भी सम्भव होगा ? और यह ब्रह्मवाद की स्थापना का गुरुतर कार्य जितना सरल था उससे कहीं यह भेद - चिन्तन करना कठिन है । क्या कभी भेद - चिन्तन के आधार पर अभेद की स्थापना संभव है ? हमेशा द्वैत वुद्धि ही तो विषमता का सर्जन करती है ।

यह दैवी एवं आसुरी सृष्टि भी भगवान् ने विचार कर ही रची है, इसमें भी तो उनका महान् उद्देश्य निहित है । फिर यदि जीवनपर्यन्त कोई भी दैवी, आसुरी सृष्टि का विवेचन करता रहे कभी वह पूर्ण होगा ही नहीं । इस अनन्त सृष्टि में ही तो प्रभु अनन्त नाम - रूपों के द्वारा लीला करते हैं । तब तुम्हीं बताओ दमला; हम ऐसा चिन्तन भी कैसे कर सकते हैं ? महाप्रभु श्री वल्लभ की वाणी गद्‌गद् हो गई । दामोदरदास ने तनिक विचार करते हुए निवेदन किया - 'किंतु, महाप्रभु यह आज्ञा भी तो भगवान् ने श्रीचरणों को ही प्रदान की है । इसे पूर्ण भी आपको ही करना है महाराज ! यही तो आपके अवतार का प्रयोजन है । फिर इसे कौन पूरा करेगा ?'

गंभीरता से आचार्यश्री वाक्पति वल्लभ ने उत्तर दिया - दमला, तुम भूल रहे हो कि प्रभु सर्वसमर्थ हैं ।उनका कार्य वे स्वयं किसी न किसी प्रकार से पूर्ण कर ही लेते हैं ; यही उनकी ईश्वरता है । इसमें उनको साधन की अपेक्षा नहीं होती । यह तो लौकिक जीवन की कल्पना है जो साधनों के विषय, सोचते-सोचते साधनों को ही लक्ष्य मान लेती है ।

प्रसन्न होकर श्री दामोदरदास ने पुनः प्रार्थना की - श्रीमहाप्रभु की वाणी सत्य है । भगवान् सत्यसंकल्पवाले हैं और उन्हीं के निर्देश से आपको इस महान् कार्य को पूरिपूर्ण करने इस धरा धाम पर अवतरित होना पड़ा है । और यह कार्य भी आपके ही द्वारा परिपूर्ण होगा । यह हम जीवों का आपके अनुग्रह से दृढ़ आत्मविश्वास है । कृपा करें महाप्रभु, हम सभी आपकी चरणरज प्राप्त करके निश्चित ही कृतार्थ हैं । इसमें जरा सा भी संशय हमें नहीं है । आपके ही द्वारा सकल मर्यादा का मंडन हुआ है और अब भी आप ही यह दिव्य कार्य संपादन करेंगे । क्षमा करें 'महाप्रभु' श्रीचरण कमलों के पराग की मकरन्द से ही जीवों की बुद्धि निर्मल हो जाएगी । यही मेरा अनुभव भी है । समझ में नहीं आता आज 'श्री वल्लभ' हम से रहस्य क्यों प्रकट नहीं करते ।

लगता है इसमें भी कुछ दिव्यलीला का संकेत है । महाप्रभुके अनुग्रह के विना हम कैसे जानेंगे ।

सभी श्रद्धावनत होकर प्रणाम करते हैं । भक्तों का आर्त स्वर गूँजता है **'वंदेऽहं तं विमल हुताशं'**

मधुर रूप अनंग मोहित कहत सुधि कीने हमै

सायंकालीन रश्मिजाल छिप गया, धीरे-धीरे प्राची में राका की किरणें नन्हीं नन्हीं बदलियों से अठखेलियाँ करती हुई लताकुंजों की ओर बढ़ने लगीं । कुमुदनी के कुसुम खिल उठे । सद्यःस्नाता प्रकृति की शोभा चाँदनी में चारों और विखर गई । छोटी-छोटी तारिका गगन झरोखे से झाँकने लगी । बालुका के रजकण यमुना की वीची पर चमक रहे थे, मानो अनन्त आकाश आज वसुधा की रूपसुधा निरखने नीहारिकाओं के साथ अवनि पर अवतीर्ण हुआ है । निशीथ का समय नीरवता से निद्रित पादप और लताकुंजों को पवन झकोर कर जगा रहा था । कहीं कही चकोर चंद्रमा को देखकर चहक उठते । चकवा चातक पावस के बिरहगीत गा रहे थे । आचार्यश्री वल्लभ उनींदे नयनों से विचारमग्न भूमिशैया पर विश्राम कर रहे थे । धीरे-धीरे वर्षा की फुहार पड़ रही थीं, मानो सेमल की रुई के पहल धीरे से बरस रहे हों । अचानक चपला चमक उठी, वातावरण प्रकाश से भर गया, मयूर कुहुक उठे । हृदय में हूक उठने लगी । दमला की आँखों में नींद कहाँ? आज महाप्रभु ने तो जागरण कर रखा है । अमल पक्ष की एकादशी का पावन पर्व और भगवत् कथा का सरस प्रसंग स्मृति पथ में बार-बार आ जाते थे । इतने में ही मधुर स्वर सुनाई दिया, ''उठो 'वल्लभ' क्या सोच रहे हो, हमें कैसे याद किया ?'' सौंदर्य दिव्य परमरस अनंग को मोहित करने वाली रूप राशि के मीठे बैन ने हृदय की वीणा के तार झनझना दिये । आचार्यश्री के सन्मुख साक्षात् निकुंजनायक पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम नयनाभिराम घनश्याम मन्द मन्द मुस्कान बिखरते हुए खड़े हैं । फिर वही मधुर स्वर 'उठो वल्लभ ! हमें कैसे स्मरण किया ।

आचार्यश्री वल्लभ एकटक बिना पलक झपकाये उस अनन्त सौंदर्य माधुर्यमंडित स्वरूप को देखकर विह्वल हो गये । दोनों हाथ धीरे धीरे परस्पर मिल गये मानो चिरकाल के विरही जन का पुनर्मिलन हो रहा हो। कुछ संकोच कुछ विछुड़ जाने की आशंका अधर फड़क कर रह गये, नयन से नयन मिले, हृदय का संदेश लेकर चुपके से प्राणवल्लभ को वता गये । तभी तो कविगण इन्हें नयन कहते हैं । फिर वही स्वर मधुर झंकृत हुआ 'वोलो वल्लभ हमें क्यों याद किया कुछ तो कहो । 'कैसी अनोखी बात अंतर्यामी पूछ रहे हैं ? किन्तु कैसे कहें कुछ तो कहना ही होगा । 'आचार्य प्रेमविह्वल वाणी में 'हे प्राणवल्लभ! क्या कहूँ गिरा गदगद् हो रही । 'वोले जात न बैन विबसता प्रेम की' स्नेह के सागर की उमड़ती लहरों पर कर्तव्य की सुधि ने चेतना को झकझोर दिया ।

कोमल वचन में वाक्पति की वाणी मधुर स्वरूप के माधुर्य का वर्णन करने लगी 'अधरं मधुरं - - - मधुराधिपतेरखिलम् मधुरं' स्तुति पूरी हुई । तन्त्री के तारों की स्वरलहरी ने सभी कुछ तो वता दिया । मन की वात को अन्तर्यामी सुनना ही चाहते हैं तव कहना

ही पड़ेगा । कितना आनंद होता है स्वजन से मन की बात सुनकर, आचार्यश्री ने पवित्रा की माला बनाई । संपूर्ण जीवन के अहोरात्र उसमें पिरो दिये । मधुर रसघन मिश्री का समर्पण करते हुए माला धारण करा दी । वैदिक श्रुति की वाणी में 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सि' का यह साकार दिव्यरूप था । मानों निखिल वाङ्मय इन तन्तुओं में सिमट गया हो । प्रभु प्रेमपरवश सर्वसमर्थ इन भावनामय तन्तुओं में बँध गये । श्री वल्लभ ने अपने प्राणवल्लभ का वरण किया, गगन मंडल से श्रुतिगान होने लगा 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' रतिपथ का नवीन मार्ग प्रशस्त हुआ । सभी बाधाएँ दूर हुई । अनुग्रह से जीवन का निग्रह करने वाले प्रभु के समक्ष विषाद का विग्रह कैसे ठहर सकता है । हजारों सम्वत्सर, परिवत्सर एवं इड़ावत्सरों के अन्तराय की कथा जिसे कवियों ने कहा था 'बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा' एक ही मृदुल मुस्कान से दूर हो गई । श्री वल्लभ को परम प्राणवल्लभ द्वारा अभूतपूर्व समाधान मिल गया । स्वयं ब्रह्म ने ब्रह्मवाद को स्पष्ट कर दिया । प्रभु ने स्वयं अपने कर कमलों द्वारा श्री वल्लभ को पवित्रा धारण करते हुए कहा, 'अब समझे ? यमेवैष वृणुते, यही इसका साकार अर्थ है । अब तुम्हें चिन्ता करने की जरा भी आवश्यकता नहीं है । तुम्हारे द्वारा जो भी जीव मेरा वरण करेगा मैं भी उसका वरण करूँगा । तुम निश्चिन्त रहो तुम तो हमारे वल्लभ हो फिर चिन्ता कैसी ? 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्यको अब भली भाँति समझ गये न ? 'अच्छा, अब मैं चलूँ, तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा ।' मिल बिछरे हैं तैसें बिछुर मिलेंगे पुनि' यही तो लोक में अलौकिक लीला का अनुसंधान है । तभी श्री वेदव्यास ने कहा है 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत सभी का स्वरूप साकार हो गया । मानो वह एक कल्प एक क्षण में बीत गया हो । तभी फिर सौदामिनी की छटा चमक उठी, दमला प्रशान्त भावसे बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे । महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य आज अत्यन्त प्रसन्न थे । मन में उत्साह नहीं समा रहा था । साक्षात् भगवान् जब स्वयं जीव की चिन्ता करें इससे अलौकिक और क्या घटना होगी ? शीघ्र ही आनन्दमयी वाणी में श्रीवल्लभ ने पुकारा ''दमला, ओ दमला । ''हाँ कृपानाथ क्या आज्ञा है सेवक यहीं खड़ा है ।'' ''अरे दमला तुमने कुछ सुना देखा प्रभु कितने कृपालु हैं ।'' "हाँ महाप्रभु यह तो आपके मुखारविन्द की आभा से ही प्रकट हो रहा है ।'' ''किन्तु मैंने तो कुछ और ही पूछा है और तुम उत्तर कुछ और ही दे रहे हो ।'' दमला विनम्र भाव से कहने लगे, ''नहीं महाप्रभु आपके प्रश्न का ही सेवक ने उत्तर निवेदन किया है ।'' ''अरे मैंने तो तुमसे यही पूछा था कि तुमने कुछ सुना है ?'' इस पर सरल भाव से श्री दामोदरदास ने उत्तर दिया'' हाँ महाप्रभु सुना तो है किन्तु समझा नहीं । समझने की शक्ति तो आपकी कृपा विना कैसे प्राप्त होगी महाराज ! जीवन में सुना तो बहुत जाता है किन्तु महाप्रभु जब अलौकिक वाणी भी समझ में नहीं आती तव परा भगवद् वाणी बिना आपके समझाये कैसे समझ में आ सकती है ? आप ही कृपा कर समझायेंगे तभी समझ सकूंगा ।'' ''ओह दमला तुम कितने महान् हो !'' आचार्य स्नेहसिक्त स्वर में बोले । फिर भी दमला ने यही

कहा, "नहीं महाराज, यह तो आपकी महत्ता है जो सभी को महान् देखती है । मैं तो महाप्रभु का अकिंचन दास ही हूँ । कृपानाथ की कृपा से ही इतना निवेदन करता हूँ कि प्रभु, अनिर्वचनीय की वाणी कौन समझ सकता है यह तो श्रीवागीश ही स्वतः ज्ञान देंगे तभी समझ में आ सकती है । अन्यथा महाराज जीवबुद्धि से समझने का दावा करना तो केवल पाखण्ड मात्र है । तभी तो वेद की श्रुति कहती हैं - न तत्र मनो गच्छति न वाक्। प्रभु यह वाक्य भी आपने ही तो मुझे अपना जानकर समझाया था। तव आज इस उत्साह में, महाप्रभु मेरी परीक्षा क्यों कर रहे हैं ?" आचार्य श्री हर्षातिरेक से आज्ञा करते हैं - 'दमला ! यह मार्ग तो तेरे लिये ही प्रकट किया है । भला तुमको नहीं समझाऊँगा तो और किसे समझाऊँगा । सचमुच आज मुझे हृदय से अपार आनंद हो रहा है ।' बीच में ही श्री दामोदरदास बोलते हैं -' यह तो मैं देख रहा हूँ महाप्रभु ! यह भी देखा है कि श्रीवल्लभ अपने प्राणवल्लभ से मिले हैं किन्तु इससे आगे तो सेवक कैसे समझ सकता है। महाप्रभु विलम्ब न करें और कृपा करके सेवक को समझाइये ।' आचार्यश्री ने बड़ी मीठी वाणी में कहा 'अरे. . दमला, तू तो सच, दमला ही रहा ।' नतमस्तक होकर प्रसन्न मुद्रा मे श्री दामोदरदास ने कहा, 'तो और क्या होता महाराज । जब तक आप और कुछ नहीं वनायेंगे मैं तो ऐसा ही रहूँगा । किन्तु फिर भी आपका अनन्य सेवक हूँ महाप्रभु मुझपर कृपा करें ।' तब आचार्यश्री सहज भाव में कहने लगे -

श्रावणस्याऽमले पक्षे एकादश्यां महानिशि,
साक्षात् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि, दोषाः पंचविधाः स्मृताः ।

देखो दमला ! हमने जब भी भागवत में दुर्वासा चरित्र पर चर्चा की तव यही प्रसंग पर विचार होता था कि प्रभु अपने स्वजनों को कभी छोड़ना तो दूर रहा, उसे छोड़ने का उत्साह भी नहीं कर सकते । कैसी आत्मीयता है उस परमतत्त्व रसेश्वर की । आज उसका मुझे साक्षात् अनुभव हो गया ।श्री दामोदरदास की आँखों में हर्ष के आँसू छलक आये और साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर निवेदन किया - 'महाप्रभु ! मुझे अपना मानकर स्पष्ट आज्ञा करें । तभी यह जीव समझ सकेगा ।'

इस पर आचार्यश्री वल्लभ ने कहा कि 'दमला' हम तुम्हारे सामने अनुग्रह मार्ग के सिद्धांतों का रहस्य प्रकट करेंगे । तुम ही इसके लिये पूर्ण पात्र हो । इसे सुनकर हृदयमें तुम ही स्थापित कर सकोगे ।हाथ जोड़ कर श्री दामोदरदास ने प्रार्थना की, आज्ञा करें महाप्रभु, आपकी दया से सभी संभव है; दास भी श्रवण करने को उत्सुक है।यही मेरी हार्दिक भावना भी थी कि जिसे आप स्वयं अयाचित फल स्वरूप से मुझे प्रदान कर रहेहैं।

आचार्य श्री महाप्रभु स्वस्थ उपदेश मुद्रा में विराजकर प्रवचन करने लगे । सभी भगवदीय जन श्री दामोदरदास के पीछे एकाग्र मन से बैठ कर उत्सुक होकर उपदेश श्रवण

की प्रतीक्षा करने लगे ।

महाप्रभु तनिक नयन मूँद कर प्रभु चिन्तन कर के प्रवचन प्रदान करने लगे ।

श्रवण नक्षत्र की पूर्णिमा को ही श्रावणी पूर्णिमा कहते हैं और उसी का यह महीना श्रावण है । इसके निर्मल पक्ष की एकादशी की महानिशा में जो कुछ मुझे प्रभु ने साक्षात् प्रकट होकर आज्ञा दी है उसी का संक्षिप्त विवेचन हम तुमको सुना रहे हैं ।

मेरे मन में बहुत समय से ही विचार चल रहा था कि दैवी जीवों को प्रभु के सन्मुख करने के आदेश का किस प्रकार पालन किया जाय । भगवान् तो सर्वतंत्र स्वतंत्र कर्ता कारयिता और सर्वथा निर्दोष हैं । किसी भी साधन से बँधते नहीं, न किसी मंत्र या तंत्र के आधीन हैं । समस्त चर अचर उनके आधीन हैं । लौकिक, वैदिक, तांत्रिक सभी प्रकार की दीक्षा से उनका स्पर्श करना भी संभव नहीं है तब उनकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ? वह तो निज भक्तों के अन्तर में अपनी ही इच्छा से रमण करता है । तब यह जीव जो अपने स्वभाव से ही दूषित है उनको कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इस पर श्री दामोदरदास ने शंका व्यक्त कि 'महाप्रभु' जीव दोष से तो भरा ही है फिर आपने स्वभाव से दुष्ट क्यों कहा ?

थोड़ा सा मुस्कराकर आचार्यश्री ने कहा - 'ऐसा नहीं है दमला ! जीव स्वरूप से तो सर्वथा शुद्ध है क्योंकि वह भगवान् का अंश है । इसीलिये श्री वेदव्यास महर्षि ने ब्रह्मसूत्र में इसका वर्णन 'अंशो नाना व्यपदेशात्' इस सूत्र से किया है जिसकी पुष्टि 'ममैवांशो जीवलोके' इस गीता के भगवद् वाक्य से होती है । इसलिये हम उसे स्वरूपतः दुष्ट नहीं कह सकते । यह दोष तो अविद्या से उसके स्वभाव में ही आते हैं, ऐसा मानना ही शास्त्रीय है और इसी से निर्दोष दृष्टि आ सकती है । हमें सर्वदा अपनी भावना को हीन नहीं बनने देना चाहिये । स्वदोष का विचार तो दमला दैन्यभाव (दीनता साधन) के लिए है । इसलिये ऐसी हीन भावना मत करो । भावना से ही जीवन अच्छा या बुरा होता है । अतः भाव और विचारों को शुद्ध रखने के लिए भी यही संगति उचित है ।' सभी शिष्यगण इस शास्त्रीय विवेचन से पुलकित हो गये ।

श्री महाप्रभु ने प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा कि जैसे यह महीना श्रावण का है उसी तरह सुनने के भाव को भी श्रावण कहते हैं । सुनना यही श्रवण है और उसे भाव से सुनना सुनाना ही श्रावण है । किन्तु यह प्रश्न होता है कि किस पक्ष को सुनाना एवं सुनना चाहिये । इसीलिये प्रभु आज्ञा देने अमल पक्ष में पधारे थे ऐसा लगता है। वैसे तो 'मिलैं गुपाल सो ही दिन नीको' यही कालातीत भगवान् के लिए मानना उचित है, फिर भी अनुग्रह मार्ग के ब्रह्मवाद का पक्ष निर्मल है । इस अलौकिक घटना से इसका भी समर्थन हो जाता है । इसीलिये इस सिद्धान्त रहस्य को समझाने में निर्मल पक्ष ही विचारणीय है। साथ ही श्रवण नक्षत्र पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि हमारा श्रवण ऐसा होना चाहिये

कि उसका कभी क्षरण न हो । जैसे आकाश में तारे टूटते और गिरते हैं किन्तु नक्षत्र नहीं गिरते । यही वेद का विधान है 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः' आत्मा का ही श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।यही विधि है आत्मकल्याण की । इसी प्रकार सुनना और मनन (सुने हुए को दृढ़ करना) करना और दृढ़ किये हुए तत्त्व का अखण्ड एकतान चिन्तन ही निदिध्यासन है । अतः ब्रह्मसंबंध के बाद ऐसा ही जीवन होना चाहिये जिससे लौकिक वैदिक में प्रपंच चिन्तन से मन भगवद् - विमुख न हो । यहाँ यह पवित्र एकादशी पुण्य तिथि है जिससे यही स्पष्ट होता है कि हमारी सभी इन्द्रियाँ प्रभुपरक भगवत्कार्य में लगे यही उत्तम पक्ष है । महानिशा का अर्थ यही है कि यह रात्रि पूजनीय और पवित्र है इसमें प्रभु की वाणी का साक्षात् श्रवण हुवा । आज वह अनिर्वचनीय, निर्वचनीय के स्वरूप में भी प्रत्यक्ष हो गया इससे महान् करुणा और क्या होगी । अतः सभी जीवों को ब्रह्म (भगवत्) सम्बन्ध कराना या उसका उद्‌वोधन करना ही सब प्रकार से उचित है । लोकसंबंध से जीवन में विषाद, घृणा, ऊँच, नीच भेद सभी हो सकते हैं, इन की निवृत्ति भगवत् संबंध के बिना नहीं होगी । तभी सभी पदार्थ शुद्ध हो सकते हैं। जीव के साधन से सब प्रकार की शुद्धि तो संभव नहीं है और असंभव धर्म का प्रभु निर्देश ही नहीं करते क्योंकि वे अनुग्रहपूर्ण हैं । उनकी कृपा से ही सब संभव है । जब पारस पत्थर, लोहे को सोना बनाते हुए स्वयं तो पत्थर ही रह जाता है तव लौकिक भाव और साधन से कहाँ तक शुद्धि संभव होगी । साथ ही यदि शुद्धि की कोई व्यवस्थित प्राणलिका नहीं होगी तव अव्यवस्था का दोष लोक में आ जायगा और सभी मर्यादा भंग कर देंगे । शिष्टाचार और अनुशासन हीनता से अनाचार होगा और शास्त्र का लोप । इन सभी प्रश्नों का अलौकिक रूप से साक्षात् भगवान् के अतिरिक्त कौन समाधान करने में समर्थ है ? देखो दमला यह कैसी अहैतुक कृपा है । आचार्य के भावाश्रु छलक उठे । मानों सीप से मुक्ताफल विखर के यमुना जल के प्रेम-प्रवाह में विलीन होने को आतुर हों । दामोदरदास भी भावभीनी आँखों से पूछने लगे ।

विनीत स्वर से कहा 'हे सर्वोद्धारक महाप्रभु' वे दोष कौन से हैं, जिनसे जीव ब्रह्म सम्वन्ध के पश्चात् मुक्त हो जाता है ?

आचार्यश्री ने उत्तर देते हुए कहा,"वत्स वैसे तो दोष अनन्त हैं, किन्तु उन सभी का समावेश पाँच दोषों में हो जाता है इसीलिये सर्व दोष भी निवृत्त ही समझना चाहिये । अव प्रथम दोष तो सहज ही है । कहीं भी आ सकता है । साथ ही देश और काल से होने वाले दोष भी होते हैं । जो स्थान और समय के आधार से आते हैं जैसे आजकल कलियुग है । कलिदोष से सभी परस्पर झगड़ते हैं, शास्त्रों के मनमाने अर्थ करते हैं और विरुद्धाचार में तत्पर (प्रवीण) होने लगे है । इसी प्रकार मलिन इच्छा और आचार वाले देश म्लेच्छ देश हैं । उनमें किसी प्रकार का चरित्र एवं नैतिकता शास्त्रों के अनुसार नहीं है । उनके लिये सभी कुछ तव तक उचित है जब तक वह उनके जीवन में हानि नहीं

करता इसलिये जहाँ विवेक का निर्धारण तप और शुद्ध भाव से न होकर केवल लौकिक आवश्यकता और सन्तोष के ही आधार पर होता है । वहाँ जन समुदाय की इच्छा मलिन होती हैं । वही देश कालान्तर में म्लेच्छ देश वन जाते हैं । अतः उसमें रहने से देश के दोष भी लगते हैं । साथ ही लोक वेद की दृष्टि से शास्त्रों में दूषित वृत्ति और दोषों का गम्भीर विवेचन है । उनके अनुसार ये दोष संयोग और स्पर्श से भी आते है जैसे मानव शरीर में रोग आदि होते हैं, यह देह की विकृति है और अन्य प्रकार से मानसिक विकार भी होते हैं । उनसे बचना जीव के लिये तो वहुत कठिन है । भगवद्गीता में इसीलिये स्पष्ट कहा है 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा' इन सभी दोषों से मुक्त होना हो तो इनका मनन नहीं करना चाहिये । इसीलिये हमने 'न मन्तव्या' ऐसा निर्देश प्राप्त किया है । मनन करने योग्य जो वस्तु है वही मन्तव्य है जैसे वेदमाता गायत्री में 'वरेण्य' शब्द वरण करने योग्य के अर्थ में आता है । यही भाव यहाँ समझना ठीक होगा । इस प्रकार भगवदीय समर्पित जीवन में प्रभुलीला का चिन्तन और गुणानुवाद हो ऐसा ही जीवन - प्रकार और वातावरण बनाना श्रेय साधक है । अन्यथा और किसी भी प्रकार से सर्व दोष की निवृत्ति कभी संभव नहीं है । श्री दामोदरदास एक चित्त से आचार्य का वचनामृत पान कर रहे थे । उन्होंने फिर प्रार्थना की 'महाराज, केवल मानने न मानने से तो सिद्धांत वनते ही नहीं, ऐसे ही केवल मनन न करने से ही दोष मिट नहीं सकते तब ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ?' प्रसन्न होकर आचार्यश्री बोले - 'दमला बड़ा सटीक प्रश्न है । तेरा यहाँ मनन और मानना एक बात नहीं है, वैसी जीवन प्रणालिका भी बनानी चाहिये । यह तुमको संक्षेप से बताता हूँ । सर्वसमर्थ प्रभु के सम्बन्ध का मनन करने से भगवद् भाव मन में आता है जैसे लौकिक संवन्धों के मनन से लौकिक भावना बढ़ती है और दूषित प्रवृत्ति में भावना ही मुख्य कारण है । इस प्रकार भावना का परिवर्तन करना चाहिये । अब जीवन प्रणाली कैसी हो उसका प्रकार बतलाते हैं ।

हमें अपने उपयोग में वही वस्तु लेनी चाहिये जिसे हम भगवान् को समर्पण कर सकते हैं । असमर्पित वस्तु का सर्वथा त्याग करना चाहिये । भगवद्गीता में इसका विशद् विवेचन है और भक्त अर्जुन को कौन्तेय कह कर भगवान् यही आज्ञा करते हैं कि कुन्तीजी भक्त हैं, उन्हीं के सम्बन्ध से मैं तुझे यह कहता हूँ कि जो कुछ तू करता है, खाता है, पीता है, जो कुछ यज्ञ करता, जो कुछ तू देता है या जो कुछ तेरा तपस्वी आचरण है वह सभी मुझे समर्पित कर दे । भक्त भक्तिभाव से पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ मुझे समर्पित करता है वही मैं खाता हूँ, ग्रहण करता हूँ ऐसा ही वैदिक श्रुति में (ब्रह्मार्पणम् ब्रह्म हवि) इससे भी स्पष्ट होता है । अतः असमर्पित वस्तु मात्र का त्याग ही भगवदीय जीवन का प्रथम चरण और इन्द्रिय - निग्रह का उत्तम प्रकार है । अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे जूते आदि का प्रभु को समर्पण कैसे करें ? तो उनके लिये हम सेवा कार्य के लिये जाते हैं तव उनका उपयोग करना ही उनका विनियोग है । जैसे धर्म करने का साधन

मान कर ही देह रक्षा है उसी प्रकार भगवदीय जीवन और वस्तु की रक्षा भी करनी चाहिये, नहीं तो देह के अध्यास ही बढ़ेंगे । इस प्रकार सभी कार्य निवेदितात्माजीव प्रभु को अर्पित करके ही करे इसका विशद विवेचन इसी आधार से समझना चाहिये । ऐसे भगवदीय जीवन के सभी कार्यो में विचार करना उचित है ।

देवाधिदेव साक्षात् पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम को आधी खाई हुई वस्तु या जिस पर अपना मन चल जाय उसे समर्पित नहीं करना चाहिये । उत्तम प्रकार यही है कि भगवान् का प्रसाद हो उसी पर हमारी इच्छा हो अन्यथा इन्द्रियों पर अंकुश नहीं रहेगा और विना लगाम के घोड़ेवाली गाड़ी की तरह जीवन को इन्द्रियों के घोड़े उलट देंगे । यही गीता में भगवद् वाक्य हैं । उनका भी अनुसंधान यथा समय कर लेना क्योंकि हमारे ब्रह्मवाद के विचार का मूल आधार भगवद्वाणी गीता है । ब्रह्मविचार में केवल शब्द ही प्रमाण हैं । यह सर्वोपरि प्रमाण है । अन्य प्रमाणों से विचारों को विचलित करने की आवश्यकता नहीं है, इसी आधार से हमने यह विवेचन किया था कि 'अतोस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्' इसलिये ब्रह्मवाद का समन्वय करने पर भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म सर्वरूप और जगत् के अभिन्न और निमित्त दोनों प्रकार से उपादान कारण कार्य रूप हैं । यही अखण्ड अद्वैत तत्व वेदशास्त्र संमत है । इस प्रकार सभी वस्तुओं को भगवान् के समर्पित करके ही जीवन की स्थिति करनी चाहिये । देवता को दी हुई वस्तु अपने कार्य में नहीं लेनी, यह सिद्धान्त दान का है और भिन्न मार्ग में इसका अनुसरण होता है । जैसे 'देवग्रामो देवक्षेत्रमिति उपचारमात्रं' यह वाक्य देवताओं के लिये शवर स्वामी ने मयूरव में कहे हैं । किन्तु यहाँ समर्पण है दान नहीं हैं । भगवान् को कोई क्या दे सकता है ? यह तो उन्हीं की आज्ञा से उनको समर्पण करना है । जैसे लोक में पिता, माता का श्राद्ध करने पर श्राद्ध की सामग्री ब्राह्मण ले जाते हैं, यह उनकी वृत्ति है और यही दान शास्त्रीय प्रकार है । समर्पण में यह भावना नहीं है । न इसका वैसा विवेचन गीता आदि शास्त्रसम्मत होगा । इसलिए यह उपचार मात्र नहीं है इसका अभी और विवेचन न करके इतना ही साररूप से समझाया है । अन्य विषय शास्त्रों से प्रात होंगे । इस प्रकार लौकिक वैदिक कार्य भी मर्यादा की रक्षा हेतु करना उचित है, क्योंकि जब तक देह-धर्म हैं उनका भी भगवत्कृपा से ही पालन हो सकता है । ऐसे ही वर्णाश्रम धर्म हैं उनका पालन भी करना चाहिये । जितनी शक्ति हो उतना स्वधर्म का आचरण करने की भावना हृदय में रखनी चाहिए । यही भगवदीय जीवन की विशेषता है. इस प्रकार भगवदीय जीवन सभी के लिये हितकारी है । ऐसा सरल सरस मार्ग प्रभु के सिवा कौन वतलाता ? कैसी अनुपम कृपा है दमला ।' इस प्रकार वार वार श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य अपने प्रवचन में भगवत्कृपा का अनुसंधान कराते हुए दिव्य माधुर्य मण्डित स्वरूप का चिन्तन कर प्रेमविभोर हो रहे थे । सभी भक्तजन दमला के माध्यम से उस अलौकिक आनंद का अनिर्वचनीय सुख ले रहे थे । इसी प्रसंग मे श्री दामोदरदास पूछ लेते हैं 'महाप्रभु ! आपने तो हम जीवों पर अनुग्रह करके गागर में सागर

भर दिया । अन्यथा, सभी शास्त्रों का समन्वय और अध्ययन करके भी साधारण जीव ऐसा दिव्य निर्णय नहीं कर सकता किन्तु क्या इसी प्रकार गृहस्थ, साधु, विरक्त सभी इस सेवाधर्म का निर्वाह कर सकते हैं ?'

उदार हास्य मुखकमल पर विखेरते हुए आचार्यश्री ने स्नेह भरे शब्दों में कहा, -'हां, दमला यह आचार सभी पालन कर सकते हैं । इसमे शास्त्र विरोध नहीं है । वह तो शास्त्रकी ही आज्ञा है । गीता में स्त्री, शूद्र सभी का उद्धार सूचित है और श्रीमद्‌भागवत में भी किरात, हूण आदि सभी के लिये भजन का विधान है । भला प्रभु हमारे कल्याणकारी हैं, लोकवेद विरुद्ध उनके द्वारा भक्तों को कभी उपदेश नहीं होता । न ही वे स्वयं सर्वसमर्थ होकर भी ऐसा करते हैं । यह तो हमारे अध्ययन की अपूर्णता है कि हम शास्त्रों की संगति में विरोधाभास खड़ा कर लेते हैं । इसीलिये तो हमने ब्रह्मवाद कहा है जिसकी व्याख्या अभी तक नहीं हुई है और श्रुति विरोध भी इससे दूर होता है । अन्यथा जो श्रुति विरोध ही दूर नहीं कर सकते उनसे विचार और आचार का विरोधाभास दूर कैसे हो सकता है? इसीलिये तो आज तीर्थ, देश, सभी तो म्लेच्छ विचारों से पापाक्रांत हैं । इस स्थिति से विना भगवान की कृपा के कौन जीव बच सकेगा ।' 'ओह ! कैसा समय है', अचानक दामोदरदास लम्बा निश्वास लेकर कहने लगे । किन्तु आचार्यचरणों का सानिध्य था । उसी समय आचार्यजी ने कहा, "नहीं नहीं दमला घबराने जैसा कुछ भी नहीं हैं । भगवद् भक्त की तो सभी बाधा शरणागति से ही निवृत्त हो जाती हैं फिर यह तो आत्मनिवेदन है इसमें काल कर्म कैसे बाधा कर सकते हैं ? इसीलिये यह तुमको समझाता हूँ कि जिससे, जैसे, सेवक का लोक व्यवहार चलता हो वह सभी निवदेन करके ही करना चाहिये, यही भगवान् की आत्मीय आज्ञा है । प्रभु के निवेदन करने से सभी में ब्रह्मरूपता आ जाती है यह हम, परम पावनी भागीरथी गंगा के द्वारा समझ सकते हैं । यह तो हमने पहले ही वता दिया है कि पारस मणि भी लोह को सुवर्ण वनाती है तव यह जाह्नवी तो परम अघनाशनी है । सगर राजा के पुत्रों जैसे अनेक जीवों के पाप नाश इनके आध्यात्मिक स्वरूप से हुए हैं और प्रवाहरूप भौतिक स्वरूप से असंख्य जड़ जीव का जीवन है । यह निर्मल नीर और प्रभु का चरणोदक जिसे भगवान् रुद्र भी अपनी जटामें धारण करते हैं और आधिदैविक स्वरूप से परमभक्त भीष्म की माता है । जैसे इनके त्रिविध स्वरूप के द्वारा लोक पावन हुवा है और जो भी कुछ इनके प्रवाह में मिलता है या डाला जाता है उसे किसी प्रकार कोई भिन्न नहीं देखता । वह सभी गंगा की धारा में उसी रूप में समान भाव से देखा जाता है । ठीक उसी प्रकार भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम की सेवा में आने वाले सभी पदार्थों में भगवद्‌भाव रखना क्योंकि उन सभी में ब्रह्मरूपता अवश्य ही आ जाती है। इससे अन्यथा भाव करने से लोक में भी दुष्टचिन्तन, दुष्टवुद्धि, दुष्टसंग सभी मनुष्य के जीवन को जैसे विकृत कर देते हैं । उसी प्रकार भगवदीय जीवन में भी वाधक वन जायेंगे अतः निवेदितात्मा जीव भगवद् - भक्त के साथ भी प्रपंच की चर्चा न करके निवेदन का ही स्मरण

करना चाहिये । यह प्रपंच की निवृत्ति और भगवान् की आसक्ति का एक मात्र उपाय है। इसलिये तो, दमला, प्रभु ने इतना श्रम लेकर हमारी सभी चिन्ताओं का सूक्ष्म कथन से निवारण कर दिया, समस्त भेदचिन्तन का भय ही निवृत्त हुवा । इतना ही नहीं, आज सभी निर्भय, जीवन्मुक्त, जीवन इस परम्परा से बिता सकेंगे ।''

किन्तु 'महाप्रभु ! आपने वह प्रणाली तो प्रदर्शित नहीं की, उसका रहस्य तो अभी रहस्य में ही रखना चाहते हैं महाराज ?' 'नहीं दमला, ऐसी बात नहीं है । वह भी मैं तुमको बतलाता हूँ; जाओ, श्रीयमुना मे स्नान कर आओ फिर तुम्हें दीक्षा दूँगा । प्रसन्न मुद्रा से श्री दामोदरदास स्नान करने चले गये, किनारे पर पहुंचकर 'नमामि यमुनामहं' का स्मरण कर स्नान किया । अपनी दैन्य भावना श्री श्यामारूपा यमुना के श्रीचरणों में अर्पित करके स्नान एवं पान द्वारा आत्मशुद्धि कर आचार्यश्री के समक्ष एक निष्ठावान् श्रोत्रिय की भाँति उपस्थित हुए । आचार्यश्री ने अंजलि बनाने की आज्ञा दी । श्री दामोदरदास की अंजलि में तुलसीदल देकर आचार्यश्री ने मंत्र दीक्षा प्रदान की । 'दमला' के नयनों में प्रेम के आँसू छलछला आये । स्नेह से वाणी विवश होने लगी । हृदय में भावतरंगों का सागर लहराने लगा, कैसी दिव्य अनुभूति थी । श्रीचरणों में दण्डवत् प्रणाम करते समय अनायास ही मुख से निकल गया 'दासोऽहं' । आज उनके मुख पर अपार तेज था । श्यामघन की सघन घटाओं से प्रेम का प्रपात बरसने लगा । मानो स्वयं घनश्याम सुन्दर भक्तों का ताप निवारण करने के हेतु कृपावृष्टि कर रहें हों । श्री दामोदरदास ने भावभरी प्रार्थना की, प्रभु आज मैं अपने अहं की मंगलमय कामना नहीं कर रहा; उसे मेरी संपूर्ण श्रद्धा से तुम्हें समर्पित करता हूँ । प्रभु 'हे श्रीवल्लभ के प्राणवल्लभ' मेरे महाप्रभु इसके साक्षी हैं । आंज मैं सर्व दोषमुक्त हुवा । मुझे सेवा योग्य नया जीवन मिला, मैं धन्य हुआ । सभी भक्त भगवदीय आचार्यचरणों में प्रणाम कर सुमनांजलि समर्पित करने लगे। आचार्यश्री की अपार तेज राशि के दर्शन कर सभी कृतकृत्य वने । विनयावनत सभी के मुख स्तुतिगान बरबस प्रस्फुटित हुआ ।

'वन्देऽहं तं विमल हुताशं ।।
वन्देऽहं तं विमल हुताशं ।।
वन्दे ....ऽ........ हम् '

श्री यमुनाष्टक प्रादुर्भाव-स्थल

सावन का महीना, उदे-उदे बादल के छोटे-छोटे टुकड़े आकाश में उन्मुक्त गज-शावकों की तरह घूम रहे थे ।

तरुवर और लता-मंडप मेघ की फुहारों से नहाकर झूम रहे थे । पश्चिम की ओर इन्द्रधनुषी रंग बिखेरता हुआ सूरज बदली की ओट से छिप-छिप कर झांक रहा था ।

पल्लवों से टपकती जल-बूंदें यमुना की लहरों पर जल तरंग बजा रही थीं । सुरभित समीर आनन्द-विभोर हो, नृत्य करता इधर-उधर घूम रहा था मानो घनश्याम की सोंधी-सौरभ का स्वाद समस्त ब्रजमण्डल मे बांटता हुआ, विरही जनों को आगम की सूचना दे रहा हो।

महाप्रभु श्री वल्लभ गोकुल की गलियों, कानन-कुंजों से होते हुए तीर पर पहुंचे । ठकुरानी घाट पर अलौकिक आभा के दर्शन करते हुए आचार्यश्री के मन में जिज्ञासा जाग उठी कि यहां गोविन्द घाट और ठकुरानी घाट कौन से हैं ? इसी विचार का अन्तर्मनन करते हुए आचार्यश्री नई नहाई हुई प्रकृति के सौन्दर्य में कुछ निहार रहे थे, खोज रहे थे प्रश्न का उत्तर जो उचित समाधान कर सके । जिसमें किसी विवाद या शंका को अवकाश न रहे । तभी तो निश्शंक प्रेमलक्षणा भक्ति का वह अभयदान मिल सकता है जिससे जीवन और जीव का पतन स्खलन न हो, दृढ़ता प्राप्त हो सके ।

निशा की श्यामल आभा में अनन्त आनन्द का प्रकाश-पुञ्ज प्रकट हुआ । कैसी सलोनी समानता थी दोनों रूपों में । एक वल्लभ और दूसरी तुर्यप्रिया यमुना । मानो अपने उद्देश्य का साकार स्वरूप ही श्री वल्लभाचार्य के समक्ष आत्मीयता से उभर आया हो ।

इस मनोहर मिलन में साफ, स्फटिक की भांति एक राह दिख रही थी, जो गोवर्धन की सघन कंदरा की सीधी गैल बन गई थी । एक अमृत भरा मधुर स्वर आकाश में तरंगित हुआ जैसे वीणा के तार से तरल स्वर गुन्जित हो रहे हों - 'आओ महाप्रभु, इस ठकुरानी घाट पर मैं आपका स्वागत करती हूँ, अपने प्रिया-प्रियतम की ओर से ।'

'नहीं नहीं, देवी तरणि-तनया ऐसा न कहें । क्यों मुझे. . . . . लज्जित कर रहीं हैं ।' प्रेम-पुलकित श्री वल्लभ विव्हल होकर वोले ।

'वाह ! आज तो महाप्रभु कैसी विचित्र वात कर रहे हैं । मेरे वल्लभ ने ही अपने निज कार्य से आपको यहां भेजा है और मुझे भी । अपने सुकोमल वालुका भरे तट पर, कदम्व-काननों सहित मैं, आपका स्वागत करती हूं, अपने सहयोगी के रूप में । देखो कैसा है हमारा समान गुण-धर्म, जो सहज ही मिल गया है । यही संयोग है जो भक्तों के अनन्त परिवत्सर के प्रभु - वियोग को दूर करेगा ।'

'आह देवी !' श्री वल्लभ के नयनों से नेह का निर्झर झरने लगा । मुकुन्द-प्रिया का मधुर रूप तट पर तरल होकर मानो चहुं ओर छा गया हो । राग की रंजना प्रेम की अभिव्यंजना हो गई 'नमामि यमुनामहं' वन्दना निनादित हुई । 'भक्त प्रतिपाल गोपाल रति-वर्द्धिनी ।'

उभर गया अनुराग का सिन्धु, समा गया भावना के एक-एक विन्दु में । 'दैन्यम् त्वत्तोषसाधनम्' रसराज शृंगार का सहचर, पोषक, करुण रस वरण के वेणुनाद में मचल गया, अचल, अविचल को निश्छल प्रेम के पर्यंक में झुलाने का झूलना वनकर ।

श्यामतमाल की ओट की कोई अनुपम अद्वैत का स्वर प्रवाहित कर रहा था - 'सरिता सिन्धु मिली परमानन्द भयो एक रस तेह' कैसा है यह भावाद्वैत के रस-विभोर ह्रदयों का सुहाना सम्मलेन ।

(श्रीमती देवी रानी खट्टर से प्राप्त - श्री वल्लभ स्वर १८-८-६० से साभार)

'नागरि प्रकट्यो पूरन नेह'

भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन चारों ओर नीरद की छोटी छोटी फुहार पड़ रही थीं। श्री वृषभानु के यहाँ राजमहिषी कीर्ति जी के यहां बालक का जन्म होगा यह आशा लगाये गोप ग्वाल सदन के चारों ओर चर्चा कर रहे थे । रावल के रावरे उत्साह से चारों ओर घूम-घूम के सूचना दे रहे थे कि आज श्री वृषभानु के यहाँ आनन्द श्री सम्पूर्ण स्नेह का आधिदैविक अवतार होने वाला है । शायद इसलिए सारे व्रज की शोभा आज दुगुनी चौगुनी बढ़ रही है ।

नव भानु और नव नन्द के यहाँ आमन्त्रण भेजने की तैयारी हो रही है । सभी के हृदयों में असाधारण उत्साह उमड़ रहा है। परस्पर चर्चा करते हुए लोग यह वातें कर रहे हैं । वेदपाठी विप्रगण और दैवज्ञ भी आमंत्रित हैं । अवगुन्ठ की ओट से आभीर ललनाएँ पूछ रही हैं कि हे त्रिकाल ज्ञानी विप्रगण आप हमें यह बताइये कि हमारी रानी कीरत जू को वालक होगा कि बालिका । किसी ने सामान्य भाव से ही पूछ लिया 'वहना आप क्या चाहती हैं ?' अरे महाराज आप तो विद्वान् हैं भला हम क्या कहें किसी के सोचने से ही कुछ हो जाय तो फिर क्या चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है ।

एक गम्भीर वाणी उभरी, 'कैसी बात करती हो वेटी जब भक्त की इच्छा से साक्षात् भक्तवत्सल भगवान् आ सकते हैं तो फिर ऐसी कौन सी बात है कि तुम्हारी इच्छा पूर्ण नहीं होगी ।' इस वात को सुनते ही सभी विचारने लगीं कि चलो कीरत रानि जू से ही पूछें कि वे क्या चाहती हैं । सभी इकट्ठी होकर अन्तःपुर में गई और उन्होंने विनम्र भाव से निवेदन किया कि 'महारानी जी दैवज्ञ व्राह्मण और वेदपाठी विप्रगण ऐसा कहते हैं कि आप जो चाहेंगी वही सन्तान आपके यहां जन्म लेगी ।' दिव्यमुख मंडल की आभा से मन्द मुस्कान प्रकट हो गयी और ललित वचन से भानु महिषी ने कुछ लजाते हुए कहा, 'वहना हमें तो एक लाली हो जाये तो सम्पूर्ण कामना पूरी हो जाय । सभी सखियों के मुख कमल जैसे खिल उठे । वाह रानि जू आपने भी कैसी हमारे मन की बात कही है । चलो अव वाहर जाकर पूछती हैं देखें विबुध जन क्या कहते हैं । सभी ने आनन्द से आकर प्रणाम करते हुए रानी जू की भावना बताई तो दैवज्ञ ने हँसते हुए कहा - 'देखो सखियो यही उस अदृष्ट की परम इच्छा है कि महारानी भी कन्या ही चाहती हैं और तुम्हें भी यही चाहिये। देखा प्रभु जिस स्वरूप में जैसा स्वयं व्यक्त होना चाहता है वैसी ही भक्तों की इच्छा हो जाती है ।'

एक वृद्ध ग्वाल ने पूछा कि 'यह कैसे ? वावा आप तो जानते ही हैं कि सारा विश्व कर्म के अनुसार फल पाता है । तब यह आपकी वाणी का क्या अभिप्राय है ।' सभी वेद और दैवज्ञ शान्ति से उनकी वात सुन रहे थे । जव यह प्रश्न हुआ तो कहने लगे कि

'हमारे शास्त्र हमारे जीवन पर ही नियंत्रण की बात कहते हैं किन्तु ईश्वर में सभी सामर्थ्य हैं । और वह तो भक्त पर वात्सल्य भावना रखता है । इसलिए जैसे सामान्य मनुष्य भी यदि किसी पर वात्सल्य की भावना करे तो उसके सभी अच्छे बुरों को भूलकर ही उसके प्रति स्नेह से सभी कुछ करता है । तब यह तो भगवान् की लीला है । इसके रहस्य को कौन जान सकता है ?' तब किसी ने पूछा कि 'विद्वान् मनीषियो ! आज जो इतनी आलौकिक कान्ति और उत्साह समस्त वातावरण में व्याप्त है इस का मूल कारण क्या है?

यह तो नई बात है कि कोई व्यक्ति पुत्र की जगह कन्या की ही कामना करे । इस पर एक विद्वान् ने कहा कि बन्धु यही भगवान् और देव में अन्तर है । देवता की आराधना में हम जो चाहते हैं वह फल देवता देते हैं और भगवान् तो जो वह चाहते हैं वैसी ही हमें प्रेरणा देते हैं और भक्त तो भगवान् की इच्छानुसार ही इच्छा करता है । उसकी स्वतंत्र इच्छा की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं है । क्योंकि वह तो भगवान् से सहज स्नेह करता है और सदा ही उनके सुख का विचार ही करता है । वास्तविक रूप में अपने आराध्य को पहचान लेता है । यह सब इसीलिए हो रहा है कि अब जो भगवान् की ललित लीला आरम्भ होगी वह सर्वोद्धारक होगी और उसी लीला के लिए यह पूर्व उन्हीं के स्वरूप का रसात्मक प्रादुर्भाव है । यह तो प्रभु के अन्तःकरण का ही रागात्मक परिपूर्ण रूप है । इसीलिये वेदों में कहा गया है कि 'पति पत्नी च अभवत्' इसमें और प्रभु में कोई अन्तर नहीं है । बतलाओ और कुछ कहना है तुम्हें? तब एक छोटे से ग्वाला ने पूछा, महाराज! यह दोनों एक कैसे हैं ?' - इसमें आश्चर्य की बात क्या है । तुम यह तो बताओ कि तुम्हारे अन्दर की शक्ति और तुम दो हो या एक ? क्या कभी तुम्हारे अतिरिक्त उसे देखा या समझा जा सकता है । इस पर वह समझ कर बोला नहीं 'महाराज ऐसा तो नहीं हो सकता ?' तव एक वृद्ध तत्वचिन्तक ने कहा कि ऐसी स्थिति में बेटा, भेद - चिन्तन से क्या लाभ जिससे हमारे अन्दर भेदवुद्धि आ जाए ? यह तो परम रस और दिव्य धाम है। वह सभी स्वरूपों में प्रकट होता है । यही तो इसकी विशेषता है ।

देखो तो सही सामान्य व्यवहार में भेद बुद्धि से कितनी हानि होती है तो यह अलौकिक चिन्तन क्यों नहीं करते । आज तो परमानन्द सुधा का प्राकट्य होगा इस प्रकार ऋषि वचन और दैवज्ञ की वाणी से सभी के मन हर्ष और उल्लास से भर गये । चारों दिशाएँ मंगलमय स्वरों से झंकृत हो गई ।धीरे-धीरे भगवान भुवन भास्कर आकाश के मध्य आने लगे । सभी दिशायें प्रकाश और उल्लास से भर गई और तभी हरख भरी सखियाँ दौड़कर श्री वृषभानु जी के पास पहुँची - बधाई है । बधाई है बाबा ! कोई कहता है वधाई है महर आज तो आनन्द सुधा ही प्रकटी है । चारों ओर से वेद ध्वनि और गान होने लगे और भक्त हृदय परम उल्लास के कलोल करके गाने लगा ।

'नागरी प्रगट्यो पूरन नेह । आज वृषभान के आनन्द भयो ।। सभी हृदय गद् गद् हो गये व्रजांगनाओं के नयन और गोपवृन्द के मन उमंग पड़े ।'

कहीं दूर से देववाणी में स्वर उभरने लगे ।

'कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा, आज तो सभी का मन कृतार्थ हो गया। सभी व्रजजनों की अशेष बाधा निवृत्त हो गई । चारों ओर से संगीत की स्वर लहरी के साथ आनन्द छलक उठा और सभी ओर से वह मधुर दिव्य कलगान होने लगा 'आजि प्रगट्यो पूरन नेह. . . . .?

(श्रीमती देवीरानी खट्टर से प्राप्त - 'श्रीवल्लभ स्वर' १८-६-९१)

यह अनिवार्य है कि आचार्यों की गरिमा परिषद् द्वारा सुरक्षित की जाए..... आचार्य केवल आचार्य हैं; गुलाम नहीं.

—प्रथमेश

चलो तुम गोवर्धन की गैल

चहकते पंछी कुछ बोल रहे थे आपस में, अपनी आपबीती सुना रहे थे । सूरज की पहली किरण मुस्कराने लगी । कदम्ब की कुंज से सुगन्धित समीर होले-होले द्रुमदलों को सहलाती हुई जगा रही थी ।

यमुना के उस पार कर्णावल में यमुना के कूल पर पर्णकुटी में अपने प्रभु को जगाने के लिए प्रेमधन पदगान कर रहे थे ।

'चिरिया चुह चुहानी सुन चकवा की बानी कहत जसोदारानी जागो मोरे लाला ।' विभास राग के स्वरों से वातावरण मुखरित हो गया । एक मधुर कंठ से आन्दोलित स्वरों में सहज ही प्रकृति के अजाने साज बजने लगे । वन प्रदेश के प्रांगण में अलसाये से मृग-शावक अनायास ही एकत्र होने लगे । जैसे कोई उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रहा हो।

घनन घनन घन्टियाँ बजने लगीं गोधन की । वालुका के कोमल कणों पर वत्सवृन्द उछलते कूदते क्रीडा कर रहे थे ।

प्रेमपूरित प्रेमधन नयन मूंदे गा रहे थे । 'चिरिया चुहचुहानी,' किन्तु मानो अलसाया गोपालबाल जाग नहीं रहा है । माता का मन आशंकित है । आज ऐसा क्यों है कहीं कुछ हो तो नहीं गया । नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता । जानबूझकर प्यार के दुलार में मचल रहा है । स्नेह सागर छलक गया मन के वन्ध तोड़कर ।

भावना के आवेश में खो गये प्रेमधन । देखने लगे अन्तर की आंखों से अलसाये उनींदे श्रीश्याम का मुख कमल । ऐसे नहीं इसे प्यार से पुचकार कर ही जगाना होगा । आखिर इकलौता लाड़ला है न । फिर वही संगीत प्रीत भरा स्वर गगन में विहंग की भाँति विहरने लगा -

चिरिया चुहचुहानी सुन चकई की बानी ।

कहत जसोदारानी जागो मेरे लाला ।।

रवि की किरन जान कुमुदनी सकुचानी, कमलन विकसानी, दधि मधे ब्रजवाला ।।

सुवल श्रीदामा तोक, उज्वल वसन पहरें, द्वारा ठाढ़े टेरत हैं, बाल गोपाला ।।

नन्ददास वलिहारी, उठो क्यों न गिरिधारी

सव कोऊ देख्यो चाहें, लोचन बिसाला ।।

पदगान के साथ ही मन की भाव तरंगें, वालगोपाल को मनुहार करके जगाने लगीं। प्रेमधन जी ने प्रभु को जगाया और सिंहासन पर विराजित करके मंगल भोग समर्पित किया। यशोदा के असीम अनुराग और श्याम सुन्दर को अंक में लेकर जगाने का सहज

स्मरण हो आया । प्रभु के समक्ष अरोगने की विज्ञप्ति करते-करते आँखें भर आईं । मन कहने लगा प्रिय घनश्याम, मेरे सर्वस्व, मैं तुम्हें ऐसा प्यार नहीं दे सकता । कितना सूना है यह मन सचमुच तुमको तो रसेश्वर यह सभी सूखा ही लगता होगा । फिर भी महाप्रभु अदेयदानदक्ष हैं न ! उन्होंने अपना भावात्मा भगवान् प्रेमपरवश होकर, हमें परमानन्द सुधा से सिंचन करने एवं आत्मीयता से सेवन करने के हेतु पधरा दिया । आप उन श्रीवल्लभ के निजजन जानकर ही हमारी इस सेवा को अंगीकृत करें यही विनती है । सर्वरूप से स्वतंत्र और पूरिपूर्ण, आज अपने भक्तों के हाथों मांग कर खा रहा है । विश्व का भरण पोषण करने वाला भक्तों के भाव का पोषक होकर स्वयं उनके प्रेम से पोषित होकर उन्हें कृतार्थ कर रहा है । प्यारे नन्दनन्दन तभी तो उन भोले-भाले ब्रजजनों ने आपके भरोसे अपना सर्वस्व प्यार से समर्पित कर दिया था । इस प्रकार भाव विभोर होकर प्रेमधन जी टेरा लेकर मनमें प्रार्थना ही कर रहे थे कि श्रीरामदास जी ने आकर भगवत्स्मरण किया । जयश्रीकृष्ण प्रेमधन जी ! ओह चौंक से गये प्रेमधन, मधुर भगवन्नाम का श्रवण एक भक्त की भावभरी वाणी की झंकार सुनकर । किसने नाम लिया मेरे परम प्रेमास्पद का । कुछ पल लग गये भावना के सागर से बाहर आने में फिर वही स्वर सुनाई दिया 'जय श्री कृष्ण' प्रेमधन जी !

रामदास ने फिर उनको भगवत्समरण किया । दिव्यभाल पर तिलक उर में तुलसी की माला धारण किये द्वार पर खड़े रामदास उनकी तन्मयता देखकर एक क्षण स्वयं भी सुधबुध बिसर गये ।

मन में पुलकित प्रेमधन- ओह भैया "जयश्रीकृष्ण " हृदय से प्रेम प्रवाह उमड़ पडा। दोनों ही गले मिले । नयनों से नीर वह चला प्रेम का सागर छलक गया । चारों ओर प्रेमपुञ्ज का प्रकाश फैल गया दो भक्तों के अपूर्व सम्मेलन से । वाणी की वीणा से भरे स्वर उभरे, न इसमें बनावटीपन था न बाहरी दिखावा ।यह तो आत्मीयता का सहज सच्चा शिष्टाचार था । आह कैसी प्रसन्नता थी ! दोनों स्वजन मानो चिरकाल से मिले हों ।

आज मेरी प्रार्थना प्रभु ने सुनी और मेरे समर्पित भोग को प्रथम ही अंगीकार किया है तभी तो अनायास स्वयं कृपा करके भगवदीय मेरे द्वार पर पधारे । मैं धन्य हुआ । आज मेरे लिए परम मंगल का दिवस है ।

प्रेमधन ने विनीतभाव से निवेदन किया कि रामदास जी आप भी अपने प्रभु को भोग समर्पित करें ।

सामग्री तैयार है । रामदास ने सहजभाव से कहा,- मैं तो प्रातः प्रभु को मंगल-भोग निवेदित करके ही चला था । आप तो जानते हैं कि मार्ग में देर होना स्वाभाविक है । ऐसे ही प्रभु को कैसे पधराता । 'हां भाई बात तो सही है । प्रेमधन समझते हुए वोले। उन्हें तत्काल स्मरण हो आया कि वास्तविक आचार्य श्री के सेवक प्रभु का वात्सल्य पहले विचारते हैं । अपना सुख भगवदीय का स्वतंत्र होता ही नहीं । आदर की भावना उनके

मुख पर आ गई । और नम्रता से बोले तब आप स्नान कर लें मैं राजभोग की सामग्री सिद्ध करता हूं और आप शृंगार आदि की सेवा पहुंचें ।

रामदास अपने कार्य में लग गए और प्रेमनिधि सामग्री सिद्ध करने में लग गए । आज एक रसात्मक परतत्व अपने निजभक्तों के विविध भावों का आलम्वन बनकर दो स्वरूपों में सहज स्नेहवश प्रकट होकर भोजन करने लगे । जो विज्ञान की दृष्टि प्रपंच की सृष्टि करके एकता में अनेकता से व्यामोह कराती है; वहां भक्ति भावना से अनेकता में एकता के दर्शन प्रेम की आंखों से भक्त सरलता से कर लेता है । दोनों ही भक्तों की आत्मीयता देखने योग्य थी । न किसी प्रकार का लुकाव छिपाव था न मिथ्याभिमान । दोनों मानों एक ही अपने घर में आए हैं । व्यवहार का आडम्वररहित आत्मीयता भरा भावात्मक जीवन । जो छल प्रपंच से कोसों दूर है । उसमें पारलौकिक सम्वन्ध का ही निखार था । उनका परस्पर परिचय उनका आत्मधर्म ही था । न संशय न भेद भाव । दोनों ही जन्म-जन्मातर से स्व 'भगवान्' जन थे ।

प्रभु का स्मरण करते हुए सेवा में तन्मय होकर प्रेमपूर्वक दोनों ने मिल कर श्रीहरि को भोग समर्पित किया । राजभोग में तुलसी समर्पित करके यथाविधि सामग्री एवं सेवा की मन में गुनी 'क्रमशः स्मरण' करने लगे कहीं त्रुटि तो नहीं रह गई । सेवा भावना के श्लोक से आचार्यश्री का स्मरण करके विज्ञप्ति करके दोनों ही यवनिका 'टेरा' लेकर बाहर आ गये । भोग समर्पण के बाद जप एवं पाठ आदि अवकाश के समय में करने लगे ।

दोनों ही भक्त समय होने पर भोग सराकर आचमन कराने के पश्चात् प्रभु को ताम्बूल समर्पित करके भावना से आर्तिकर प्रभु को झाँपी में पधरा कर अनवसर करके प्रसाद लेकर भगवत् चर्चा करने लगे ।

रामदासजी और प्रेमधन जी दोनों ही भगवद् वार्ता कर रहे थे कि एक वैष्णव ने आकर प्रभुस्मरण करके उनसे प्रश्न किया । बाबा आप दोनों पर तो श्री विट्ठलनाथ जी की कृपा है किन्तु मेरे मन में भगवद्-भाव स्थिर नहीं होता अतः कृपा करके ऐसा उपाय वताने का कष्ट करें जिससे स्वधर्म एवं भगवद् - भावना स्थिर रहे ।

एक क्षण विचार करके श्रीरामदास ने कहा, 'देखो भैया भावना तो श्री प्रभु के अनुग्रह के विना कैसे स्थिर होगी । हमें तो आचार्य जी ने पूर्ण कृपा करके भगवत्सेवा का अधिकार प्रदान करके सरलरूप से कल्याणकारी मार्ग वतला दिया है । उसको हम जीवन में कितना उतार सके हैं, इस पर सभी निर्भर करता है ।'

इस पर जीवनदास ने कहा, इसलिए मैंने अनेक स्थानों पर कथा और प्रभु श्रीहरि के गुणगान सुने अनेकों स्थानों पर गया फिर भी मन में भावना स्थिर नहीं रही ।

इस वात को सुनकर प्रेमधन जी ने स्नेह भरे स्वर में कहा, 'देखो जीवनदास जी आप इतने भटक कर भी अपने में सूनापन अनुभव कर रहे हैं किन्तु जब तक एक निष्ठा

और दृढ़ता से सेवा धर्म और आचार्य श्री के उपदेशों को हमें जीवन में, 'आचरण में' लाने का उन्हीं का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए । देखो मनुष्य के पास दो शक्ति भगवान ने कृपा करके दी हैं । एक क्रियाशक्ति है दूसरी ज्ञानशक्ति है । इनका सदुपयोग हम करना सीख लें तो इनके लिए किसी दूसरे पर आश्रित होने की जरूरत नहीं है । केवल श्री गुरु और श्रीहरि का ही आश्रय लेकर उनके उपदेशों का मनन करना चाहिये । इसीलिए श्री वल्लभाचार्य ने हमें 'सेवा और कथा' ये दोनों साधन बतलाये हैं और ये ही फलरूप भी हैं। इसमें हमारे आचार और विचार दोनों ही प्रभु के सन्मुख होते हैं । साथ ही प्रेमलक्षणा भक्ति से यह सरलता से संभव हो जाता है क्योंकि लौकिक प्रेम जो कि वासना प्रधान होता है फिर भी उसके लिए मनुष्य कुछ भी कर सकता है । तब भगवान् से अनन्य अलौकिक अनुराग से तो सभी सहज संभव हो जाता है । आपने कभी हृदय से उनसे स्नेह करने का प्रयास किया है ? यह प्रयास लीलाचिन्तन से ही होता है ।'

रामदास कुछ सोचकर कहने लगे । देखो जीवन भाई तनिक सोचकर देखो कि जितनी लगन से आपने प्रेय साधन के लिए संसार का स्मरण भजन किया है और जितना स्नेह से समर्पण अपने स्वार्थ साधन हेतु किया है क्या उतनी सच्चाई से या उससे कुछ कम लगन से स्वधर्म सेवन किया है । देखो भाई यदि ऐसा कुछ इस ओर भी ध्यान देते और सहज अनन्य अनुराग प्रभु से करके आचार्य श्री की वाणी का ही चिन्तन किया होता तो आज इतना भटकना नहीं पड़ता । और यह भी समझने की आवश्यकता है कि प्रथम आचार्य श्री के सिद्धान्त को जानना चाहिये । इसके विना भगवत् लीला का स्वरूप समझ में नहीं आयेगा । और साथ ही यह स्मरण रखना कि लीला और सिद्धान्त दोनों में अन्तर है । लीला से सिद्धान्त नहीं जाना जा सकता । सिद्धान्त के ज्ञात होने पर ही प्रभु की लीला का रहस्य हम समझ सकते हैं । इस तरह आचार्यश्री का प्राकट्य का कारण हम समझ सकते हैं । यह आचार्यश्री की आज्ञा है कि जब सिद्धान्त का ज्ञान हो जाय तब भगवद्लीला के द्वारा जो शास्त्र ज्ञान होता है वही सच्चा शास्त्र बोध हो सकता है । यह परस्पर सम्बद्ध हैं ।

प्रेमधन जी ने आदर भाव से जीवनदास को समझाया कि अपनी बुद्धि के अभिमान से व्रह्मविद्या और सिद्धान्त समझ में नहीं आ सकते । उसे तो श्री गुरु के मुख से ही श्रवण करने की प्राचीन प्रणाली है । कल्पित प्रकार से शास्त्र का अर्थ करना उचित नहीं है । यह हमारे ऋषियों की मान्यता है । इसी प्रणाली का अनुसरण श्री वल्लभ ने किया है । मेरी तो यह सलाह है कि- आप इतना श्रवण कर चुके हो अव भी आप में निष्ठा की स्थिरता नहीं हुई, यह आप स्वीकार करते हैं, इसलिये यह उचित है कि आप हमारे साथ ही गोपालपुर चलकर श्री विट्ठलनाथ जी के प्रवचन सुनें और उनके सान्निध्य में रहकर श्री वल्लभ ने वाणी का अध्ययन करें तो हमें विश्वास है कि आपके मन में भक्ति मार्ग स्थिर होगा ।

कर्णावल में श्री मधुरेश प्रभु के प्राकट्य स्थल एवं आचार्य श्री की बैठक पर श्रद्धा से प्रणाम करके भगवद् गुणानुवाद गाते हुए प्रभु को अपने मस्तक पर लिए गोपालपुर की ओर प्रस्थान करने लगे । जीवनदास भी उन्हीं का अनुसरण करने लगे । आज उनके मन में अपूर्व शान्ति थी । एक अनजानी शक्ति आत्मीयता से उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रही थी । जमुनावत्त की बालुका भरी राह पर होकर तीनों ही भक्त गोपालपुर की गैल पर आगे बढ़े । कानों में एक दर्द भरा मीठा स्वर सुनाई दिया "गोवर्धनवासी सांवरे लाल तुम विन रह्यो न जाय हो ब्रजराज लडैते लाडिले' वांकचित मुसकायके लाल मोहन वेनु बजाय हो- गाँग बुलाई धूमरी नेक ऊंची टेर सुनाय हो - ब्रजराय लडैते लाडले लाल' - । गौरी राग में गाया जाने वाला यह गीत क्या था मानो ह्रदय की वेदना उभर कर आ रही हो । एक विरह भरा स्वर विखर गया जैसे धरती की उष्मा को शान्त करने वदली से बूंदे वरस गई हों । रामदास और प्रेमधन जी ने जीवनदास की ओर अर्थभरी दृष्टि से देखा । दोनों का गला भर आया और अपने आप से कहने लगे - 'हे प्रभु हमें भी श्री महाप्रभु का निज जन जानकर ऐसी आत्मीयता का दान करो' नेह छलक गया वाणी से मन की अनुभूति से विवश शब्द निकल गये । एक क्षण में ही सब कुछ स्पष्ट हो गया । अनजाना किन्तु मधुर आकर्षण सभी को अपनी ओर बुला रहा था । होले से रामदास ने कहा कुछ - समझे जीवन कि जीवन कैसा होता है ? जीवन दास मौन सम्मति से उनकी ओर देखने लगे ।

मानो स्नेह सरिता का प्रवाह उन्हें अपने आप ले जा रहा है गन्तव्य की ओर ।

(श्रीमती देवीरानी खट्टर से प्राप्त - श्री वल्लभ स्वर जून १९८२)

मैं अपने जीवन में अंतिम प्रयास करूंगा कि परिषद् सशक्त बने किन्तु मुझे दूर रखा जाये; न मेरा अधिक नाम हो, यही मेरी साधना है और यही संगठन का मूल है.

—प्रथमेश

करिष्ये वचनं तव

हिन्दी अनुवाद : श्री निरंजन शास्त्री उमरेठवाला ।

हे भगवन् ! आपकी कृपा के आकांक्षीजन आज धन के पीछे अन्धी दौड के कारण स्वकर्तव्य भावना एवं धर्म से बहुत दूर हो गये हैं ।

विशुद्ध भाव से संगठन भी कर नही सकते हैं । आप परम प्रिय हैं फिर भी जीवात्मा अज्ञानवश अपने आप से भी पैसे को ज्यादा प्रेम करता है । धन के लिये मानव क्या नहीं करता है यह स्पष्ट ही है ।

स्वार्थ वृत्ति का यह सिलसिला कहाँ तक जा के रुकेगा यह कहना भी मुश्किल है। धन को स्वप्राण से भी प्रिय बनाने वाला मानव स्वधर्म व वैष्णवता का जीवन भी इसके ऊपर चढ़ा बैठा है ।

सुबह से शाम तक हाय हाय करके त्रस्त होने के बावजूद भी आनन्दमय प्रभु की सेवा की ओर मुडता ही नहीं है ।

हे महाप्रभु श्री वल्लभ ! आज आपकी वल्लभीय सृष्टि के निजजन आपको एवं आपकी सरल सिद्धांत वाणी को भूल गये हैं । सभी ऐसा प्रतीत कराते हैं जैसे कि उन्होंने स्वात्मविश्वास को नितान्त गवां दिया हो ।

एक सर्प के मुखमें मेढ़क हो और वह मेंढ़क अपने पास आये हुए मच्छर को या मक्खी को खाने के लिये अपने मुंह में पकडने का प्रयास करता है उसी प्रकार आज वैष्णवों की गति है । जहाँ भी पैसे रुपये इकट्ठे हो गये वहाँ संगठन में भी सेवा समर्पण के सिद्धांत को त्याग कर स्वयं अहं वश हुकूमत करने के लिए मदमस्त वन जाता है ।

मौज मजा के लिये अतिव्यय करने वाला मनुष्य धर्म के लिये स्वशरीर से तनुजा सेवा करने को तैयार ही नहीं क्योंकि उसे धन प्रिय है । हे भगवान वह आपको प्राणप्रिय क्यों मानेगा ? मन के मैले एवं तन के उजले लोग आपकी निष्काम भक्ति कैसे करेंगे ? जिसका मन दुष्टभाव वाला है उसके अन्तर में आप कैसे विराजेंगे ? इसीलिये वह आपके अनुग्रह से वंचित (अनुग्रह शून्य) होकर विषय वासना के अंधेरे में भटकता रहता है ।

जब तक जीवात्मा प्रपंच प्रीति छोड कर आप में स्नेह जोड कर आपके दिव्य सौन्दर्य के दर्शन किये बिना आपके स्वरूपामृत के दर्शन कैसे करेगा भगवन् !

हे प्रभु ! हमें यह कहते हुए बिलकुल शर्म नहीं आती कि स्वधर्म के लिये हमारे पास समय नहीं है तो सच्ची सेवा कैसे हो सकेगी ? इस यंत्र युग में यंत्रणा भोगते हुए सही स्थिति से वेखवर यह जीवात्मा बिलकुल जड बन गया है । महाप्रभु श्रीवल्लभ आप अदेयदानदक्ष होने के कारण आपके प्रताप से उसकी जडता दूर करेंगे तो ही आपके बताये रास्ते पर चलने की शक्ति एवं प्रेमलक्षणा भक्ति मिलेगी । आप दैन्य प्रदान कीजिये जिससे हम संगठित होकर तन मन धन से आपकी सेवा कर सकें । 'इतिशम्'

मनुष्यमात्र को भगवत्- शरणागति का अधिकार

जब-जब इस तपोभूमि भारत में धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान हुआ तब-तब स्वयं भगवान ने ही आचार्य रूप में प्रकट होकर धर्म प्राण समाज का संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन किया । हमारी प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार्य का प्रकट स्थूल विग्रह भगवान का ही स्वरूप है । विश्व की सम्पूर्ण मानव जाति जब नग्नावस्था में घूम रही थी तब भी हम ज्ञान-विज्ञान के चरम शिखर पर थे, इतिहास इस बात का साक्षी है । कालान्तर में जब विदेशी आक्रमण से हमारा राष्ट्र जर्जरित हो गया तब भी हमने बड़ी दृढ़ता से उन विदेशियों को अपनी संस्कृति में आत्मसात् कर लिया । यद्यपि आज हम विज्ञान के क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व करने में अक्षम हो रहे हैं किन्तु विश्व हमें आज भी निःसंकोच भाव से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अपना गुरु और पथ-प्रदर्शक मान रहा है ।

आधुनिक विचारधारा के कुछ व्यक्ति जो आज के युग को विज्ञान का युग कहते हैं, उनका कहना है कि आज के इस युग में प्राचीन धर्म, सभ्यता और संस्कृति अनावश्यक है । उनके मत से इस युग में धर्म और ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है । इतना ही नहीं ये लोग धर्म ईश्वर को मानव उन्नति का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व मानते हैं ।

इस तरह आज का विज्ञान और उस पर आस्था रखने वाला मानव हमारी समस्त मान्यताओं को आत्मसात् करने को उद्यत है । यद्यपि हमारे लिए यह कोई नई बात नहीं। इससे पूर्व भी हमें अनेकों प्रकार की विचारधाराओं से संघर्ष करना पड़ा है । जिनमें देहात्मवादी चार्वाक, अनात्मवादी बौद्ध, पुद्‌गलवादी जैन आदि प्रमुख रहे हैं । इन समस्त संघर्षों और चुनौतियों को हमने स्वीकार किया और इतिहास जानता है कि हम इसमें सफल रहे हैं ।

आप सभी धर्माचार्यगण इस तथ्य से अवगत हैं कि किस प्रकार आद्य जगद्‌गुरु भगवान शंकराचार्य ने समस्त वादियों को परास्त कर अपनी कठोर तपस्या और साधना के बल से पवित्र वैदिक विचारधारा को पुनरुज्जीवित किया । आप श्री ने जिस वैदिक वर्ण और आश्रम धर्म-व्यवस्था को दृढ़ किया, उसके परिणामस्वरूप हजारों वर्षों तक इस देश के पराधीन रहने पर भी हम अपनी सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्ण पाते हैं । विश्व की प्राचीन ग्रीक और रोमन संस्कृतियाँ पराधीनता के सौ वर्षों के काल को भी सम्हालने में सक्षम न हो सकीं । गुण कर्मो पर आधारित इस वर्णाश्रम व्यवस्था से अतीत काल में जहाँ अनेक लाभ हुए वहीं कालान्तर में इसके महत्व को ठीक से न समझने के कारण अनेक हानियाँ भी हुई । दसवीं शताब्दी में हमारी यह वर्णाश्रम व्यवस्था उन विदेशी आक्रमणकारियों को आत्मसात् करने में अक्षम पाने लगी । उस समय यह आवश्यक था उन विदेशी आक्रमणकारियों, जिनमें किरात, हूण, आन्ध्र पुल्कस, यवन आदि प्रमुख थे, को हम अपनी संस्कृति में आत्मसात् कर लें । इसके लिए ऐसे उदात्त और व्यापक धर्म की आवश्यकता थी जिसका आधार वर्ण और आश्रम धर्म की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ हों।

हम देखते हैं कि उस समय जगद्गुरु भगवान रामानुजाचार्य ने उस प्राचीन वैदिक विचारधारा को नूतन और दृढ़ आधार प्रदान कर तमाम विदेशियों को आत्मसात् कर लिया। भगवान रामानुजाचार्य के शिष्यों में बहुत बड़ी संख्या उन भक्त आलवार सन्तों की थी जो वर्णाश्रम धर्म की परिधि से बाहर थे । भगवान रामानुजाचार्य के बाद अन्य वैष्णवाचार्य जिनमें आचार्य मध्व, निम्बार्क, श्रीमद्वल्लभाचार्य आदि प्रमुख हैं, प्राणिमात्र को इन आचार्यों ने बिना किसी भेद-भाव के भगवत् प्राप्ति का अधिकारी माना । इन आचार्यों के पास एकही दिव्य संदेश था कि मनुष्य मात्र को भगवत्- शरणागति का अधिकार है और भगवान् की शरण में जाने पर वह कैसा भी जीव क्यों न हो परम पवित्र और शुद्ध हो जाता है । श्रीमद्भागवत सभी वैष्णवाचार्यों का शिरोमणि ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि-

पद्भ्यां भगवतो यज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये । तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः ।।

श्रीमद्भागवत के अनुसार परमानन्द भगवान के चरणारविन्द से सेवा उत्पन्न हुई और सेवा से शूद्र की उत्पत्ति हुई । श्री हरि इस शूद्रवृत्ति या सेवावृत्ति से ही सन्तुष्ट होते हैं । हमारे शास्त्रकारों के अनुसार सेवा और शूद्र में घनिष्ठ सम्वन्ध है और सेवक का स्थान सवसे ऊंचा माना है । सेवक को हरि का भी हरि कहा गया है । जो सेवक हो सकता है, वह सब कुछ हो सकता है । शूद्र होना हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि मै गौरव की वस्तु है । किन्तु सेवक के लिए अनिवार्य शर्त है- आत्मसमर्पण । बिना आत्मसमर्पण के कोई व्यक्ति सेवक नहीं हो सकता और आत्मसमर्पण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम अपने अहंकार और ममत्व को सम्पूर्ण रूप से त्याग न दें । इसीलिए सभी वैष्णवाचार्यो ने समर्पण और सेवा पर विशेष जोर दिया है । १६ वीं शताब्दी में जब सम्पूर्ण उत्तर भारत पददलित हो चुका था। उस घोर अन्धकार के युग में भी किस प्रकार श्रीमद्वल्लभाचार्य ने इस धर्मप्राण देश का नेतृत्व किया यह आप धर्माचार्यों से अविदित नहीं है । आचार्य चरणों ने उस समय छिन्न-भिन्न होती हुई वैदिक विचारधारा को नई दिशा प्रदान की ओर वहुत वड़ी संख्या में विधर्मी होने से हिन्दू जनता को वचाया । अनेकों विधर्मियों ने भी आपके सान्निध्य में वैष्णव धर्म को स्वीकार किया जिनमें रसखान, आलम, ताज आदि प्रमुख थे । हम आपको यह वताना चाहते हैं कि किस प्रकार इन वैष्णवाचार्यो ने वैदिक धर्म और संस्कृति का संरक्षण करते हिन्दू धर्म और संस्कृति को संरक्षण प्रदान किया। भले ही उन आचार्यों के हम अनुयायी आज उस ज्ञान-गंगा को धारण करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं । आज वहुत बड़ी संख्या में हिन्दू धर्मालम्वी अन्य धर्मों का अवलम्वन करते जा रहे हैं और हम सोये हुए हैं । जनतंत्र के इस युग में हमारी यह प्रगाढ़ निद्रा कहीं हमारे अस्तित्व को ही समाप्त न कर दे । हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने शोणित से जिस संस्कृति को सींचा था, आत्मसमर्पण के द्वारा इसे पल्लवित और पुष्पित किया था; उस संस्कृति के उत्थान में आज हमारा योगदान क्या है इस पर शान्तचित्त से वैठकर हम सभी लोगों को विचार करना है ।

आज के युग की कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं । उन समस्याओं का समाधान भी आप आचार्यो को प्रस्तुत करना है । पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदत्त विरासत को हम सुरक्षित रख सके हैं या नहीं हम उस धर्म को उस समाज को पोषण दे पा रहे हैं या नहीं जो धर्म हमें धारण कर रहा है । कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम धर्म को सशक्त करने के वजाय उसकी निर्बलता का कारण तो नहीं बन रहे हैं । धर्माचार्यों का यह कर्तव्य होता है कि वे धर्म को जीवित रखें । धर्म पर स्वयं न जीवें । यदि धर्म के नाम पर धर्माचार्य जीवित रहते हैं तो निश्चय ही वह दुर्बल धर्म स्वयं नष्ट होकर धर्माचार्यों को भी नष्ट कर देगा ।

आज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी वर्ग का क्यों न हो उसके कुछ प्रश्न हैं । कुछ जिज्ञासा है । वह आपसे जानना चाहता है कि समाज की वर्तमान परिस्थितियों में आपका योगदान क्या है ? हमारे पूर्वाचार्यो ने निश्चय ही हजारों वर्षों तक समाज की समस्याओं का समाधान किया है । उसका पथ - प्रदर्शन किया है। वह आपसे भी उसी प्रकार को अपेक्षा रखते हैं । पूर्वाचार्यों की उस परम्परा को आपको पुनः जीवित करना होगा । इस महासम्मेलन में आपको कुछ ठोस निर्णय लेने होंगे । ऊपर जिन समस्याओं की तरफ हमने इशारा किया है उन्हीं में से एक समस्या आज हमारे राष्ट्र के नवयुवकों की भी है । आप जानते हैं आज का यह नवयुवक ही हमारे राष्ट्र का भावी कर्णधार होगा । हम देखते हैं आज अधिकांश नवयुवक आस्थाहीन हैं । यह आस्था किस प्रकार की है, इसे सरलता से देखा जा सकता है । इस नवयुवक की आस्था धर्म ईश्वर माता-पिता आचार्य-गुरु कहीं पर भी नहीं है । किन्तु इसका कारण वह नवयुवक नहीं है । उसके कारण हम आप और हमारे राष्ट्र के कर्णधार हैं । नवयुवकों की कुछ समस्याएँ हैं उनकी कुछ जिज्ञासाएँ हैं उसका आपको समाधान करना होगा ।

गुरु आचार्य माता-पिता या राष्ट्र के कर्णधार जब भोगवादी हो जाते हैं, धन और ऐश्वर्य के संग्रह में शक्ति व्यय करते हैं तब निश्चय ही वे किसी भी राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकते । और समाज का कोई भी विचारशील व्यक्ति उन पर श्रद्धा नहीं रख सकता । आज के नवयुवकों को श्रद्धाशील और संयमी वनाने के लिए हमें स्वयं संयमी वनना होगा। पुराणों में बड़ी रोचक कथा आती है । एक ब्राह्मण ने चोरी की । सभासदों ने व्यवस्था दी कि ब्राह्मण की चोरी का अपराधी राजा है । यदि ब्राह्मण ने अध्ययन करके चोरी की तव भी अपराध राजा का ही है । क्योंकि राजा ने ब्राह्मण की जीविका की उचित व्यवस्था नहीं की । यदि ब्राह्मण मूर्ख था तव भी अपराध राजा का ही है । क्योंकि राजा ने उसके अध्ययन की व्यवस्था नहीं की । इस कथानक से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि आज हमारे नवयुवकों की चरित्र-रक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से हम पर है ।

हमारे पूर्वाचार्यों ने जगत् को विषमता से वचाया था । धर्म की आवश्यकता भी जीवन की विषमताओं को दूर करने में ही है, न कि उनको वढ़ावा देने में । जगत् के विविध नाम रूपों में मंजुल सामंजस्य स्थापित करना और उसका दर्शन करना ही भगवत्

लीला है । इस विचारसरणी में धर्म, वर्ण और आश्रम धर्म बाधक नहीं होने चाहिये । इसमें घृणा और विषमता को भी स्थान नहीं मिलना चाहिये । प्रभु की लीला सृष्टि में सतत् कपूय चरण और रमणीय चरण का सञ्चरण होता ही रहता है । इसी को शास्त्रों में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति के नाम से कहा गया है । श्री परशुराम का ब्रह्मक्षत्र मिश्रित स्वरूप, विश्वामित्र का राजर्षि ब्रह्मर्षि मिश्रित स्वरूप, वाल्मीकि ऋषि का जीवन इस बात के प्रमाण हैं कि गुणों के अनुसार वर्ण परिवर्तित होते रहे । मनु ने तो स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण गुणों के अनुसार शूद्र हो सकता है और शूद्र ब्राह्मण । फिर भी हम अपनी मानवोचित दुर्वलता के कारण सत्य को समझने में आनाकानी करते हैं । अस्पृश्यता हमारे सदाचार और पवित्रता के सम्पादन का अनिवार्य अंग है तो इसकी नितान्त आवश्यकता है किन्तु यदि इससे घृणा और राग द्वेष का जन्म होता है तो यह अत्यन्त निन्दनीय है । जिस प्रकार जाह्नवी का स्नान हमारे पापों को नष्ट करता है स्नान करने वाले स्वयं को पावन समझता है, यह अपराध नहीं है । किन्तु यदि वह दूसरो को अपवित्र या अस्पृश्य समझता है तो यह अत्यन्त अनुचित है । उसी प्रकार हमारे धर्मशास्त्र भी हमें साधना की दृष्टि से नई दिशा प्रदान करते हैं । वैष्णवाचार्यो ने कभी किसी को न तो अस्पृश्य माना है और न तो कभी किसी से घृणा की है । उनके मतानुसार जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की चार जातियाँ हैं उसी प्रकार वैष्णवों की भी एक पंचम जाति है । और इस जाति में सभी लोग सम्मिलित हो जाते हैं जिन्होंने गुरु के मुख से भगवान के नाम का श्रवण किया है ; भले ही वे किसी भी जाति धर्म को माननेवाले या न माननेवाले क्यों न हों । वैष्णवाचार्यो का यह कथन सर्वथा शास्त्रीय प्रमाणों पर आधारित है । जैसेः-

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रास्चतस्रो जातयो यथा ।
स्वतन्त्रा जातिरका च विश्वस्मिन् वैष्णवाभिधा ।।

ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्मखण्ड ११/४१

श्रीमद्वल्लभाचार्य के मतानुसार प्राणी मात्र भगवन्नाम ग्रहण करने पर अच्युत गोत्र और निष्पाप हो जाता है 'माम् हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः' । इस भगवद्गीता के वचन के अनुसार नीच से नीच प्राणी भी भगवन्नाम ग्रहणमात्र से सद्यः परमपूत एवम् निष्पाप हो जाता है ।

अन्त में मैं सभी महानुभावों से निवेदन करता हूँ कि हम सभी समवेत होकर अपनी धार्मिक स्थिति का पुनरावलोकन कर जनजीवन की विषमता का उचित समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें तथा अपनी भूतकालीन उदासीनता का परित्याग कर इस राष्ट्र के पथ का प्रदर्शन करें । साथ ही मेरी यह भी प्रार्थना है कि आप लोग समय को देखते हुए दार्शनिक विचार वैविध्य को भी धार्मिक विलगाव का साधन न वनने दें ।

(अन्तर्राष्ट्रीय वैष्णव महासम्मेलन में अध्यक्षीय अभिभाषण पूज्यपाद गो. रणछोडाचार्यजी प्रथमेश दिनांक २६-७-७४

आयो जक श्रीमद् वल्लभ वे दान्त उपदे शक महाविद्यालय, छात्र निवास ट्र स्ट वीरोगर

'पुष्टिमार्ग और भारतीय संस्कृति'

पुष्टिमार्ग, जिसको कि आज से प्रायः ५०० वर्ष पूर्व श्रीवल्लभाचार्यजी ने स्थापित किया था, आज ऐसी स्थिति में है जहाँ उसका स्वरूप स्थित रहना असम्भव है । एक ओर सामयिक परिस्थिति के कारण उसकी प्रगति मन्द हो गई है तो दूसरी ओर आचार्य तथा अनुगामी वर्ग परस्पर संघर्ष-रत होकर इसके विनाश का वीज वपन कर रहे हैं । इस प्रकार की स्थिति के उत्पन्न होने के कारणों पर दृष्टिपात किया जाय तो वहुत उपलब्ध होंगे किन्तु यह समय वीती बातें दुहराने का नहीं है, वरन् समस्त मनोमालिन्य को दूर कर एकता से इसकी रक्षा करना ही समुचित जान पड़ता है । हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष का यह समय अत्यन्त विरोधी है । अतः हमें उन सभी बातों को भूल जाना होगा जिनके द्वारा हमारे अन्तःकरण में एक दूसरे के प्रति घृणा हो गई है । आज हमें सहन करना है और सहन करना सिखाना भी है । ऐसा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में शक्तिसंचय भी करना है । इस कार्य को सम्पन्न करने के हेतु हम में त्याग और सद्भावना का उदय होना आवश्यक है, जिससे विलग तथा शंकित मानव ह्रदय को पुनः समीप लाया जा सके । यदि हम ऐसा नही करेंगे तो इसका परिणाम हमारे अंतिम चिह्न तक को मिटा देगा । प्रायः देखा जाता है कि हम एक दूसरे को नीच और घृणित भावों से देखते हैं और किसी को तुच्छ वनाकर आनन्द का अनुभव भी करते हैं । किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं कि यह भावना एक दिन हमें भी उसी स्तर पर ले जायगी जहाँ हमने व्यक्ति विशेष को पहुँचाया है । हमें अभी हमारे देश एवं धर्म के लिए बहुत कुछ करना है । केवल धर्म के लिए ही नहीं । यदि हम यह कहें कि देश के हेतु हम कर्तव्य पालन करेंगे किन्तु हमारे लिये अब धर्म का कोई महत्व नहीं तो ऐसा कहना आत्मप्रवंचना होगा । जिस वस्तु को हम सदियों से प्राण से भी अधिक स्नेह करते आये हैं उसका ही रक्षण न कर सके तो देश का कर सकेंगे इसका विश्वास कैसे किया जा सकता है । कौन जाने हमारी यह प्रवृत्ति वहाँ भी अपना काम न कर वैठे । फिर हमें जो देशके लिये करना है वही धर्म के लिये भी । जिस वस्तु की अपेक्षा हमें देश सेवा में होगी उसी की धार्मिक जगत् के लिये भी है और यदि यथार्थ दृष्टि का अनुसरण करें तो देश सेवा धर्म सेवा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता किंतु दोनों का तात्पर्य एक ही वस्तु में है । जो कार्य देश सेवा से सिद्ध होगा वही धर्म सेवा से, यह निश्चित प्राय है । हमें वर्तमान अवस्था से उन्नति कर सुख शान्तिमय स्थिति तक पहुँचना है । समाज की कुत्सितता को मिटाकर शुद्ध एकता स्थापित करनी है । वही दो प्रधान लक्ष्य प्रकृति में उपस्थित हैं । जिनकी सिद्धि होने से हमारा देश समृद्धिशाली सुखी तथा निश्चिंत हो सकता है । एक सूत्र में बंध सकता है । यही है हमारा देश सेवा करने में उद्देश्य । अव हम धर्म सेवा करने की ओर भी देखेंगे तो अनुचित न होगा ।

धृअवधारणे धातु से धर्म शब्द वनता है । जिसका अर्थ समस्त राष्ट्र के अवधारण (धर्मो धारयति प्रजा) से है । पुनः हम धारण शब्द की परिभाषा पर भी विचार करें तो

प्रतीत होगा कि धारण शब्द का तात्पर्यार्थ पोषण भी होता है । इस शब्द द्वयी की संगति से यही प्रतिफलित होता है । स्थैर्य तथा इसकी रक्षा के हेतु प्रपुष्टता, सबलता और यह जिसमें उत्पन्न करने हैं उस अधिकरण को हम प्रजा कहते हैं । (जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्रकर्षेण जायते इति) जो उत्पन्न हो वह प्रजा है जिसकी परिभाषा हम जनसमुदाय विशेष से कर सकते हैं । इस जनसमूह को ही दूसरे अर्थ में समाज की संज्ञा दी गई है। अब हम क्रमशः उपरोक्त पंक्तियों का अर्थ करें तो धर्म का अर्थ होगा समाज में स्थिरता, सवलता उत्पन्न करनेवाला । और जब हमारा समाज सवल चिरस्थायी होगा तब सुख शान्ति स्वतः सिद्ध है । इस प्रकार विचार करने से देश सेवा का तात्पर्य धर्म सेवा में गतार्थ हो जाता है और दोनों के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं आता । स्मरण रखने योग्य वात है उपरोक्त धारण और पोषण शब्द धातु के रूप हैं ? अतः उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है 'डुधाँयँ धातु से दो अर्थो की निष्पत्ति होती है । धारण और पोषण इसी पोषण शब्द का अवान्तर रूप है पुष्टिमार्ग ।

यह पुष्टिमार्ग क्या है ? समाज को धारण पोषण करने वाला प्रशस्त पथ । और इस पथ पर चलने का सिद्धान्त है शुद्ध अद्वैत । शुद्ध एकता का स्थापन करना । यहाँ तीन वाक्यों की संगति करना आवश्यक है । तभी उनके अर्थ ही स्पष्टतया प्रतीति होगी। समाज को एक रूप में धारण तथा पोषण करने वाले सवल मार्ग को ही पुष्टिमार्ग के नाम से सम्वोधित किया गया है । इन्हीं अभिप्रायों को लेकर आचार्यों ने इस मत की स्थापना की है । किन्तु यह एकता किस प्रकार निष्पन्न हो जब कि निखिल मानव की भिन्न रूप में प्रतीति हो रही है । इसी प्रश्न को हल करने के हेतु आचार्य प्रयत्नशील थे । उसी समय की एक घटना विशेष का वर्णन करते हुए उन्होंने पद्यनिर्माण किया है जिस पर विचार करने से हमें समस्या का हल स्वतः मिल जाता है । वह पद्य इस प्रकार है-

श्रावणस्यामले पक्षे एकदश्यां महानिशि ।

साक्षात् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।१।।

ब्रह्मसंवंधकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । (सिद्धान्तरहस्य)

इस पद्य में प्रथम तो उस दिन का उल्लेख है जिस दिन यह विचार चल रहा था । आगे उत्तर है । 'ब्रह्मसंवंधकरणात्' । इस पद में इसका अर्थ यह है कि-

श्रावण मास की निर्मला एकादशी को जव निखिल मानव को एक सूत्र में वाँधने के हेतु सर्वश्रेष्ठ संबंध का विचार करते हुए मुझे जो ईश्वरीय प्रेरणा हुई वही मैं अक्षरशः उल्लिखित करता हूँ या कहता हूँ । सभी जीवों को आत्मा के एक सूत्र में वाँधा जाय अर्थात् उन्हें ब्रह्मसम्वन्ध कराया जाय । ब्रह्म की ओर प्रेरित किया जाय । जिससे वे स्वतः शुद्ध अद्वैत रूप में परिणत हो जायेंगे, जहाँ उन्हें कोई भी शक्ति विलग न कर सके। इसी आत्म सम्वन्ध (ब्रह्म सम्वन्ध) के द्वारा समाज को स्थिर कर सवल शान्तियुक्त तथा सद्भावनामय वनाने के पथ को ही पुष्टिमार्ग कहते हैं, और उसके दृढ़तर सम्वन्ध को

ब्रह्मसम्बन्ध कहते हैं । इस ब्रह्म शब्द का अर्थ वृहत् होगा अर्थात् जो व्यापक है, जहाँ अज्ञान कृत समस्त मानव के भेद (उच्चावचत्व) नष्ट हों उसे ब्रह्म कहते हैं । जिसके सम्वन्ध से प्रत्येक मानव व्यापकता के द्वारा एकता स्थापित करे और समाज तथा राष्ट्र को स्थिरता सवलतापूर्वक वहन करें । ऐसी ही एकता के सिद्धान्त वाले मार्ग का दिग्दर्शन हमें आचार्यों द्वारा हुआ है । उसी को आज उनके अनुसरणकर्ता अपनी हीनता के कारण मिट्टी में मिलाने का यत्न रागद्वेष की भावना का प्रसार कर रहे हैं । यह आश्चर्य की वात है । किंतु देश तथा समाज के लिए हमें उनकी रक्षा करनी है अतः हमें प्रेम तथा सहानुभूति से एक दूसरे को साथ लेकर इस विषमय संघर्ष को समाप्त करना ही होगा । जो लोग इस संघर्ष के द्वारा समाज में विष भरा प्रचार करते हैं और अपने आपको आचार्य का परम भक्त कहकर औरों की अवहेलना करते हैं वे हमारी परम्परा तथा शील के विरुद्ध हैं । साथ ही आचार्य के प्रति उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर विश्वासघात करते हैं । किन्तु हमें किसी की आलोचना नहीं करनी है । हम तो यह चाहते हैं कि आज की स्थिति को समझ कर स्नेहपूर्वक सव भाई परस्पर गले मिलें और इस महनीय पथ का वास्तविक अनुकरण करने का दृढ़ संकल्प करें । यही सुख शान्ति का परम लक्ष्य होगा और हमारे आत्म कल्याण का मार्ग, जिसे आज तक भारतीय परम्परा ने अपने अंचल में वैदिक काल से लेकर अव तक छिपाए रखा और जिसकी प्राण-पण से रक्षा की । उस एकता के सिद्धान्त की रक्षा के हेतु यह कलह शोभा नहीं देता । वहाँ तो शान्तिपूर्वक पावन प्रेम से ही आत्मोसर्ग करना चाहिये । यही हमारे आचार्यों का भव्य सिद्धान्त है, जिसे हम आज भूल गये हैं । इसी को पुनः पुनः स्मरण करने के लिए ही तो ब्रह्मसम्वन्धात्मक गद्य दीक्षा की परम्परा चलाई थी । किंतु दुःख है कि हमने उसे इस स्तर पर लाकर रख दिया है । परन्तु सुवह का भूला यदि शाम को भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहते । इसलिए अव हमें हमारा वास्तविक घर खोजना चाहिये जिसमें सभी अपनत्व का अनुभव करें । जहाँ वीराने भी हमारे हो जाय कि वीरानापन उन्हें याद भी न रहे । यही शिक्षा हमें आचार्य वल्लभ के जीवन से प्राप्त होती है । जिसे आर्ष भाषा में 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' इस प्रकार कह सकते हैं । यह अनेक में एकता की भावना भारतीय संस्कृति की मौलिक वस्तु है, और इसकी प्रेरणा वैदिक काल से निर्वाध गति से चली आ रही है। कथंचित् वौद्ध सिद्धान्त भी इससे प्रभावित हुआ है । यह भावना भारत तक ही सीमित नहीं रही प्रत्युत विदेशों में भी इसका प्रभुत्व भली भांति दृष्टिगोचर होता है । आचार्य ने व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने का मुख्य कारण दैन्यात्मिका प्रपत्ति को माना है । इस युक्ति पर विचार किया जाय तो वाल्लभ सिद्धान्त भारतीय दर्शनों का सक्रिय रूप कहा जा सकता है । आचार्य की यह दृढ़ धारणा है कि समष्टिगत महान् तथ्य को प्राप्त करने में विना दीनता तथा प्रपत्ति के कार्य साधन सम्भव नहीं । अतः सत्य की शोध में मानव को अत्यन्त निरभिमानी और निर्लेप रहना आवश्यक है । यह शरणागति की रूपरेखा वैदिक

काल में तो उपलब्ध है ही प्रत्युत् बौद्ध सिद्धान्त भी इसे अंगीकार करते हैं । यथा 'बुद्धं शरणं गच्छामि' । इसी प्रकार यह भारत के सभी दार्शनिक जगत् को प्रभावित करती हुई बाइबल, कुरान तथा सूफी इत्यादि मतों का भी स्पर्श करती है । इससे सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि इसमें कितना तथ्य निहित है । यहाँ इस विषय का विस्तृत वर्णन करना शक्य नहीं । किंतु इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मानव जगत् में एकता सम्पादन करने में दैन्य तथा प्रपत्ति का महत्व अन्य की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं ।

(गो० श्री द्वारकेशलालजी स्मृति ग्रंथ से साभार)

दशम स्कन्ध की भूमिका

श्रीमद्भागवत संस्कृत वाङ्मय में श्रेष्ठ ग्रंथ माना गया है । इसका मुख्य कारण हमारी धार्मिक श्रद्धा भावना के अतिरिक्त और भी है । और वह है मानव जीवन में घटने वाली घटनाओं का रोचक वर्णन तथा भगवत् अवतारों का मानवीकरण । उक्त दृष्टिकोण से भागवत निस्सन्देह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में भी दशमस्कन्ध वहुत ही अधिक महत्वपूर्ण है । जिस वाक्य से वैदिक वाङ्मय में 'द्वादशौ वै पुरुषः' के द्वादशात्मक भगवान का निरूपण किया गया है, उस वाक्य को आधार मानकर आचार्य श्री वल्लभ ने भागवत को भी स्वरूपात्मक माना है । आचार्यश्री दशमस्कन्ध को निरोध का स्थान मानते हैं । इस पर हम तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो आचार्यचरणों की मान्यता को केवल श्रद्धा का विषय ही नहीं कहा जा सकता किन्तु यह एक तथ्य है, जिस पर मानवीय दृष्टिकोण से विचार करना अत्यावश्यक है । वस्तुतः दशमस्कन्ध में मानवीय मनोभावों का चित्रण हमें जितना साकार एवं स्पष्ट रूप में मिलता है वह अन्यत्र सुलभ नहीं ।

राजा परीक्षित ने जब गर्भ में अपनी रक्षा करने वाले पराक्रमी वंश में उत्पन्न भगवान कृष्ण के विषय में एवं चंद्रवंश की कथा जाननी चाही तव श्री शुकदेवजी ने जितनी सावधानी से इस स्कन्ध का वर्णन किया है उतनी सतर्कता अन्यत्र कम दिखाई देती है । उक्त बात का स्पष्टीकरण इससे सहज में हो जाता है कि भगवान कृष्ण के जीवन में पूर्ण मानवीय भावनाओं का विकास हुआ है एवं उनका जीवन विविध भेदों से ओत-प्रोत है ।

जव पुरुष अपनी महत्वाकांक्षाओं को लेकर जगत में प्रकृति विलास देखता है तो पूर्णत्व को पाने की उसकी चिर अभिलाषा अत्यन्त वलवती हो उठती है । किन्तु वह पूर्णतः अनेक विधाओं और विषमताओं के समन्वय के विना नहीं प्राप्त होती । वस इसी का विलक्षण चित्रण हमें दशमस्कन्ध में मिलता है जिसके चरित्रनायक हैं हमारे परमाराध्य श्रीकृष्ण । इसमें भगवान श्रीकृष्ण के जीवन का पूर्ण सर्वांगीण चित्रण है जिसमें हमें अनेक विध ऊँच-नीच के भेदों से पके एक ऐसे क्रान्तिकारी जीवन की झाँकी मिलती है जो मानव के भावों का एवं विकास का पूर्ण प्रतीक वनकर सामने आता है ।

अपूर्ण एवं पूर्ण का यह समन्वय हमें अणुत्व से विभुत्व एवं विभुत्व से अणुत्व की अर्थात् इनफीनिटी और फिनिटी को एक रूप में देखने की प्रेरणा देता है ।इसी व्यष्टि एवं समष्टि -वाद से अभिव्यक्त नामरूपात्मक जगत को लोग अनित्य के रूप में देखने का प्रयास करते है । उसी को शाश्वत नित्य शुद्ध सद्रुप में देखने का संदेश भगवान हमें देते है । यह वंध और मोक्ष का खेल केवल स्वार्थ और परमार्थ की मौलिक भावनाओं पर अधिष्ठित है । यदि हम इस प्रसंग में भगवान के अवतारवाद को लें तो अप्रासंगिक न होगा । यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान पूर्णकाम परिपूर्ण होते हुए भी क्यों इस धरणी (भूमि)

पर अवतरित होते हैं ? यदि उक्त प्रश्न का उत्तर शास्त्रकारों की दृष्टि में है तो एक ही है कि भगवान अपने लिए नहीं दूसरों के लिये अवतीर्ण होते हैं । यही एक वह मंत्र है जो हमें भगवान् कृष्ण के जीवन में जो शाश्वत शक्ति छिपी हुई है उसका दर्शन कराता है और यही हमारे सुख दुःखों का सहज उत्तर है ।

जब मानव स्वार्थों के लिये पर को भूल जाता है तव यह जगत् संसार रूप में वंधन का कारण प्रतीत होता है और यदि पर दृष्टि से हम इसे देखें तो यह गतिमान विश्व हमारी शाश्वत स्थिति को समन्वय रूप में हमारे समक्ष उपस्थित करता है एवं व्यष्टि तथा समष्टि में एक समरसता बोधक के रूप में मोक्ष रूप दिव्य आनंद की विहारस्थली वन जाती है। अब यह केवल हमारी बात है कि हम इसे किस रूप में देखते हैं ।आचार्य श्री ने दृष्टिकोण की तात्त्विक विवेचना श्रीकृष्ण की जीवन की लीलाओ को लेकर सुवोधिनी में की है ।

थोथे आदर्श के ढोल पीटकर कभी परम सुख प्राप्त नहीं होता न वह आत्म विस्मारक अनावरण से प्राप्त है ।वह तो हमारे जीवन में सतत विद्यमान वास्तविकता के गहन अध्ययन का ही एक मृदुस्वरूप है जिसे हम निष्काम सेवा , श्रम के द्वारा सहज ही प्राप्त कर सकते हैं इसी स्वरूप का निदर्शन करना तात्विक निरोध है । अहंभाव से सेवन करना सांसारिक निरोध है । आचार्य श्री ने इसी भावना को भगवान श्रीकृष्ण के जीवन से साकार किया है । जहाँ श्रीकृष्ण एक ओर दुर्दान्त अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते हैं वहां दूसरी ओर पशु-पक्षी ,गुल्मलता एवं मानव के प्रणय में आवद्ध हो अनेक कष्टों को सुख में परिवर्तित कर अपने साथियों का उत्साह निरंतर बढ़ाते रहते हैं । वहां उस निरानंदमयी भावना को कोई स्थान नहीं जो मानव जीवन को हताश कर देती है यही कारण है कि आचार्य श्री ने मानव मनोवृत्ति का निरोध स्थान इसे चुना जिससे सतत क्रांतिमय गतिमान जीवन ,कुंठाओं को देखकर स्तब्ध न रह जाय । यही है चरैवेति चरेवैति एवं एकोहं वहुस्याम् का मूल आर्षसिद्धान्त जो जीवन में सड़ान्ध और दुर्गन्ध नहीं आने देता ।

आचार्यश्री ने कृष्ण के जीवन चरित्र के माध्यम से मानव जीवन को वहुत ही निकट से देखा है और यह सच भी है । जव तक मानव जीवन को भगवदीय दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता तव तक हमारे जीवन का रहस्य हमें समझ में नहीं आता ।अतः इसे समझने के लिये आवश्यक है - निरूद्ध अध्ययनशील दृष्टिकोण । यहाँ मानव जीवन से भगवान के जीवन की कल्पना नहीं की गई है अपितु भगवान के द्वारा मानव जीवन का निर्दर्शन है।यदि ऐसा हमारा दृष्टिकोण नहीं वनता तो मानव जीवन भी उतना ही दुरूह और दुर्लभ है जैसा कि परम ज्ञानियों का व्रह्म और माया ।

अतः दशम को निरोध स्कंध कहने से आचार्यश्री का तात्पर्य मानव को अपना जीवन एक लक्षित होकर देखने की ओर इंगित करना है और ये ही भाव सुवोधिनी टीका में अभिव्यक्त प्रतीत होते है एवं यह वात अपने आप में गंभीर सत्य है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही हमारे सुख दुखों का हेतु वनता है और दुःखात्मक विषमताओं का

सुस्थिर एवं गंभीर अध्ययन ही हमारी सुखात्मक अनुभूतियों का सर्जक है । यहाँ थोड़ा भगवच्चरित्र पर विश्लेषण करें तो अप्रासंगिक न होगा । इससे भारतीय विचारधारा के विद्वानों की मान्यता जीवन के प्रति क्या है इसे समझने में बहुत ही सहायता मिल सकती है ।

अवतारवाद में भगवान के जन्म का उद्देश्य अपने लिये नहीं है । अतः उक्त वात का गीता के ''परित्राणाय साधूनाम्'' वाक्य से स्पष्ट है और हमारे महान विद्वान् आचार्य श्री वल्लभ ने इसी वाक्य को सफल जीवन का रहस्य (सीक्रेट ऑफ सक्सेसफुल लाइफ) मानकर दशम स्कंध में भगवच्चरित्र का विवेचन अपनी टीका में किया है । अब इस पर दृष्टान्त के द्वारा विशद् रुप से विचार करें । कंस के अहंभाव एवं स्वार्थ वुद्धि से पीड़ित वसुदेवजी देवकी एवं ब्रज के प्रजाजन अपने दुखों को पशुवत् मूक रूप में सहन करते हैं। उसी समय भगवान पुरुष रूप में अवतीर्ण होते हैं । यही है पुरुष अवतार की पुरुषोत्तम की ओर बढ़ती हुई लीलात्मक प्रगति का प्रारम्भ । किन्तु प्रगति अकेले नहीं होती है इसलिये उसमें हमें व्यूह की आवश्यकता है और व्यूहात्मक स्वसामर्थ्य का पूर्ण लीला अथवा जीवन की पूर्ण उपयोगिता है यही बात हमें वासुदेव के अवतार से मिलती है । उन्होंने जव जन्म लिया तो अपने कर्म क्षेत्र लिये देश काल का चिंतन नहीं किया किन्तु ''अथःसर्वगुणोपेतः'' इस श्लोक में देश काल वातावरण एवं ग्रह, घड़ी, पल, आदि सभी अनुकूल स्वयम् बन गये । यहाँ नियतिवाद प्रगतिवाद के साधक के रुप में उपस्थित होता है वाधक के रूप में नहीं, जहाँ हम अपने को कुंठित पाते हैं । अतः परदुःख प्रहाणेच्छा के सत्य संकल्प से अवतीर्ण पुराण पुरुष के समक्ष (सामने) स्वयम् ही वातावरण ने अनुकूल बनने में अपनी भलाई समझी । क्या यह संकुचित 'स्व' के अर्थ में सम्भव होता ? जबकि वह संकुचित स्वार्थ से परे है । अतः जन्म प्रकरण से स्पष्ट है कि सत्यसंकल्प एवं परदुखकातर परोपकारी मानव ह्रदय के प्रतीक अन्तरात्मस्वरूप भगवान पुराण पुरुषोत्तम लीला विहार के हेतु जब अवतरित हुए तव बन्दी वसुदेव एवं देवकी के वंधन मुक्त हो गए अर्थात् वँधे हुए मानव कार्यरत हुए जो एक निष्काम समाज सेवा में योगदान देने का प्रतीक है ।

वास्तविक रूप में जब ऐसा उत्साह जीवन में आ जाय जब समय को भी संकल्प के सामने विनीत होना पड़े तव क्या पर्वत, दीवार, नदी, अथवा नाले जीवन की प्रगति को रोक सकते है ? कभी नहीं रोक सकते । वरन् वह तो चरण स्पर्श कर अपने आप को कृतकृत्य समझेंगे । क्या ऐसे समय भी वे जड़ता ही धारण करेंगे । नहीं, उनमें तो उस समय वैज्ञानिक चिदात्मक अनुभूति उत्पन्न हो गई थी । क्या अन्तस्थ चेतन का अनुभव प्राणी ही कर सकता है ? नहीं वरन् वनस्पति एवं विश्व का कण कण उसकी अनुभूति का उस आनन्द का श्रवण कर रहे हैं । तभी तो हमारी वेद माता गायत्री सवितुः वरेण्यं की ओर हमे प्रेरित करती है और यही आधुनिक वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि यदि जगत पूर्ण जड़ जैसा कि जड़ात्मक दृष्टि कोण से वर्णित है तो (एक रूट दूसरे रूट के रूप में

नहीं आता) एक वस्तु से परिणामों की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती । अगर हम परिणामों को गलत रूप में देखेंगे तो हमारा जीवन और हम स्वयं, विकारी हो जायेंगे अन्यथा शुद्ध अविकृत एक रस की लीलात्मक विविध अवस्थाओं में, अनेकत्व में, अनुभूति एकत्व के माध्यम से होती रहेंगी और जीवन के प्रति शुद्ध दृष्टिकोण का परिणाम होगा अविकृत । इसीलिये सभी जगत् रूप में गहरी अनुभूति से भर उठें और निर्बाध गति से चलें नन्दालय की ओर ।

(वैष्णव मित्र मंडल, इन्दौर, स्वर्ण जयन्ती स्मारिका से साभार)

अपने साधन तो श्रीहरि ही हैं

प्रभु सर्वसमर्थ हैं. वे ही हम पर कृपा करते हैं. सर्वसमर्थ प्रभु की छत्रछाया में दासत्व की भावना से परिषद् का कार्य करें. उन्हीं की कृपा से सब कुछ होगा. अपने साधन तो श्रीहरि ही हैं. वे ही ताप का हरण करके आनंद का दान करते हैं, उनका स्मरण करते हुए कार्य करें तो कोई भी अशक्य नहीं है.

—प्रथमेश

विविधता को विषमता में न बदलें

आचार्य श्री वल्लभ ने उज्जैन में सिंहस्थ कुंभ पर्व पर पदार्पण किया था और आपने ब्रह्मवादी सिद्धान्त की स्थापना की। ब्रह्मबाद से मेरा तात्पर्य यह है कि जो तर्क और विचार ब्रह्म से प्रारंभ किया जाए, उसे हम ब्रह्मवाद कहते है। कुंभ पर्व पर आचार्यश्री के पदार्पण का हेतु यह है कि कुंभ पर्व भारतीय संस्कृति का एक विशाल धार्मिक सम्मेलन है, जिसमें धर्म की विविधता को लेकर हम जीवन की विषमता को मिटा दें।

आचार्य वल्लभ के सिद्धान्त में यह जगत् सत्य होते हुए भी भगवान् से परे नहीं है और भगवद् रुप है। इसलिए जीवमात्र में जो हम भेद देखते हैं, उसके लिए हमें एक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा और वह दृष्टिकोण और उसका परिणाम होना चाहिए अविकारी। इसीलिए आचार्य वल्लभ के दर्शन का जो अल्टीमेट परिणामवाद है उसको हम अविकृत परिणामवाद कहते हैं। इसे गीता के शब्दों में **'अविभक्त विभक्तेषु'** कहा जा सकता है। जीवन, जनता, जगत् और विचार इनमें विभिन्नता होते हुए भी ये अविभक्त रुप में रहें, इसका साकार दर्शन हमें कुंभ के अवसर पर होता है।

उज्जैन को मोक्षदायिनी पुरी मानते है। यह हमारी भारतीय आस्था है। यहाँ कुंभ पर्व पर धर्म के विविध प्रकार के सम्मेलनों से यह स्पष्ट है कि भारतीय घर्म और संस्कृति के कारण उनकी विविधता विषमता में परिणत नहीं हुई और इसीलिए यह कहना भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में ठीक नहीं है कि यहाँ धर्म की कट्टरता है कारंण कि धर्म की विविधांगी व्याख्या इस देश की एक महत्ता है। इस महत्ता को सुरक्षित रखना ही भारतीय संस्कृति ओर सभ्यता को सुरक्षित रखना है। जीवन ओर जगत् की विविधता विषमता में न बदले इसलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य ने यह अनुरोध किया है कि हम जगत् को प्रभु की लीला मान कर अविकृत रुप में देखें। अपने जीवन संघर्ष में से ऐसा अमृत प्राप्त करें जिससे शान्ति, प्रेम और सौन्दर्य उपलब्ध हो।

(सिंहस्थ कुंभ पर्व १६८० पर)

प्रस्तुति - कुमनदास झालानी